पाण्डुलिपियों की क-ख-ग

प्रगति शर्मा

प्रकाशक :
वृन्दावन शोध संस्थान
रमणरेती, वृन्दावन-281121 (मथुरा) उ.प्र.

वर्तमान समय की आवश्यकता थी यह पुस्तक। आज नई पीढी ज्ञान-तंत्र के पुरा- पक्ष से बिल्कुल अपरिचित हो चली है। यह आश्चर्य तब और अधिक बढ़ जाता है, जब पढ़े-लिखे लोग भी किसी पुराने हस्तलिखित ग्रंथ को देखकर सीधे मूल रचनाकार की कृति समझते हुए, बड़ी गम्भीरता से आश्चर्य की अभिव्यक्ति करते हैं।

वास्तव में वर्तमान पीढ़ी ने जिस युग में आँखें खोली है वह मुद्रण प्रणाली का अत्याधुनिक दौर है। ऐसे में जब आज के विद्यार्थियों का जब हस्तलिखित ग्रंथों से साक्षात्कार होता है तो उनके द्वारा इस ज्ञान के अभाव में आश्चर्यजनक अभिव्यक्तियों का होना स्वाभाविक है।

वृन्दावन शोध संस्थान की अध्येता प्रगति शर्मा के द्वारा आज विद्यार्थियों के हित में इस पुस्तक का तैयार किया जाना भगवदीय कार्य है। जिसके माध्यम से नई पीढ़ी पाण्डुलिपि-पाठन में आने वाली परेशानियों के साथ ही हस्तलिखित ग्रंथों के युग में प्रचलित पुस्तकों के उन विधानों से भी परिचित हो सकेंगी जो प्रकाशन की प्रक्रिया बदलने के चलते, पिछले सैंकड़ों वर्षों से चलन से बाहर हैं। इसी आशा के साथ ग्रंथ लेखिका एवं वृन्दावन शोध संस्थान, दोनों का साधुवाद।

पं. उदयशंकर दुबे
पूर्व सर्वेक्षक,
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

पाण्डुलिपियों की क-ख-ग

[मुद्रण तकनीकी [Printing Technology] से पूर्व हस्तलिखित ग्रंथों के युग में प्रचलित संकेताक्षरों, लेखन प्रविधि, शब्दांक, काल निर्धारण पद्धति प्रतिलिपिकार एवं नागरी लिपि की पोथियों से जुड़ी विविधताओं के अध्ययन पर एकाग्र—]

[संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार के अनुदान से प्रकाशित]

सम्पादक

प्रगति शर्मा

वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन

प्रकाशक :

वृन्दावन शोध संस्थान, रमणरेती, वृन्दावन

Website : www.vri.org.in

E-mail : vrindavanresearch@gmail.com

ISBN : 978-81-935048-2-6

© सर्वाधिकार सुरक्षित

संस्करण - प्रथम

वर्ष 2018-19

मूल्य : 100/-

मुद्रक :

श्रीधाम प्रेस,

रमणरेती मार्ग,

वृन्दावन-281121 (मथुरा) उ.प्र.

समर्पण

स्व-आराध्य

ठा. श्री राधामोहनलाल जू

महाराज

के

श्रीचरणन

में ...

- प्रगति शर्मा

Himachal Pradesh Technical University
(A State Government University)
Gandhi Chowk, Hamirpur, District Hamirpur (H.P.)-177001
Phone: (01972) 224152, Fax : (01972) 224150
E-mail ID: vchptu@gmail.com, spbansal.vc@gmail.com

Prof. S.P. Bansal
(Vice Chancellor)

- **Former VC** - Indira Gandhi State University, Meerpur, Rewari, Haryana
- **Former VC** - (A/C) BPS Mahila Vishwavidalya, Sonipat, Haryana
- **Former Founder VC** - Maharaja Agrasen University, HP
- **Nominated Member of Board of Governors** (2016-19) of IITTM, Ministry of Tourism Govt. of India and IIM, Amritsar
- **MHRD(GOI) Visitor** - (HE President of India) Nominee, Centre University, Tejpur and Himachal Centre Univ. Dharamsala
- **SAARC President** - Tourism and Hospitality Educators and Researchers Association of ASIAN Countries (THERAA)
- **President** - Indian Tourism & Hospitality Congress (ITHC)
- **Advisor and Visiting Professor** - University of European Tourism (UET) Italia, Milano, Europe
- **Founder Chief Editor** - Tourism Development Journal (An International Journal), Tourism Innovations- A journal of ITHC, Tourism Spectrum
- **Principal Investigator** - e-PG Pathshala in Management and e-PG Pathshala in tourism and hospitality- A Centrally sponsored scheme of National Mission on Education through ICT (NMEICT) of MHRD (GOI)

No.

Dated: 29/06/2018

शुभकामना संदेश

मुद्रण तकनीकी से पूर्व तथा बाद में पुस्तकों के बदले मायनों से हमने बहुत कुछ प्राप्त किया तो काफी कुछ खोया भी है। संस्कृति का जो चिंतन हमारी पूर्व पीढ़ियों ने किया वह हमारे साहित्य की बहुमूल्य निधि है। छापेखानों के आगमन के बाद यह ज्ञान राशि मुद्रित हुई और एक लम्बे अन्तराल में हम छपे हुए अक्षरों को पढ़ने के अभ्यस्त होते गये।

पाण्डुलिपियों के तैयार किये जाने में कभी सहज प्रयोग में आने वाली प्रविधियाँ एक लम्बे समय में आज असहज हो चली हैं। वृन्दावन शोध संस्थान अपने उद्देश्यों के प्रति सजग एवं चिंतनशील है। हेमचन्द्र विक्रमादित्य से जुड़े अप्रसारित ब्रजभाषा संदर्भों पर केन्द्रित संगोष्ठी के दौरान मेरा परिचय संस्थान से हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ **'पांडुलिपियों की क-ख-ग'** की लेखिका **प्रगति शर्मा** के द्वारा पूर्व में संपादित 'ब्रज की अकबरकालीन पुस्तक ठौर उसका सूची पत्र' ग्रंथ पांडुलिपियों के जगत में उनके अध्ययन को दर्शाता है। जिसमें उन्होंने 16वीं सदी के ऐसे ग्रंथागार की चर्चा की है जिसके संदर्भ मुद्रण तकनीकी के इस युग में लुप्त प्राय: थे। आज हस्तलिखित ग्रंथों के युग की तत्कालीन ग्रंथ रचना-प्रविधि तथा पोथी लेखन में प्रयोग किये जाने वाली संकेत प्रणाली को सचित्र रूप से जनोपयोगी बनाकर प्रस्तुत करना श्रमसाध्य कार्य है। जिसका फलित रूप ग्रंथ लेखिका द्वारा तैयार की गई इस पुस्तक से प्रत्यक्ष है। आशा है संस्कृति प्रेमी सुधीजनों के मध्य यह ग्रंथ समादृत होगा।

बधाई एवं मंगलकामनाएँ,

प्रो॰ एस.पी. बंसल
कुलपति

श्रीमन्माध्वगौड़ेश्वर वैष्णवाचार्य
गोस्वामी (डॉ०) अच्युतलाल भट्ट
एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत, पी-एच.डी. भागवत-भूषण),
(श्रीमद्भागवत के मनीषी एवं परंपरा सिद्ध प्रवक्ता)

सी-253, चैतन्य विहार, फेस-द्वितीय,
श्रीधाम वृन्दावन, मथुरा (उ.प्र.)
मोबाइल नं० 09412485678

शुभकामना संदेश

नई पीढ़ी की पांडुलिपियों के प्रति बढ़ती दूरी ने उन्हें पोथियों के पढ़े जाने तथा इन पुरा-पुस्तकों के तैयार किये जाने सम्बन्धी तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान से काफी दूर ला खड़ा किया है। पाण्डुलिपियों के प्रति निरन्तर बढ़ती अनभिज्ञता ने इस समस्या को और अधिक गहराया है। कालांतर में मुद्रण तकनीकी अस्तित्व में आई और आज इसका अति आधुनिक रूप सर्वविदित है। पर मूल की खोज में हमें आज भी उन पोथियों के उस धरातल को स्पर्श करना जरूरी हो जाता है, जब वे अपने रचनाकाल के दौरान लिखित रूप ले रही थीं। ग्रंथ प्रकाशन की एक व्यवस्था तब थी और एक आज। तब एक पांडुलिपि से बमुश्किल दो या तीन पांडुलिपियों का प्रकाशन श्रमपूर्वक होता था और आज एक बार में हजारों प्रतियां एक साथ छपती हैं। श्रम साध्यता के उस युग में लिपिकार द्वारा मानवजनित भूल होने अथवा अन्य कारणों से कई संकेताक्षर भी समय-समय पर उदित होते रहे। समय के बढ़ते चक्र से हस्तलिखित ग्रंथ हमारे लिए असहज हुए। सहज पठनीय न होने तथा तत्कालीन धरातल पर ग्रंथ लेखन की प्रविधि का ज्ञान न होने के कारण मुद्रित सामग्री को पढ़ने के अभ्यस्त व्यक्ति के लिए पोथियों को समझना और अधिक उबाऊ हो जाता है।

शोध अध्येता **प्रगति शर्मा** के द्वारा प्रस्तुत रचित ग्रंथ '**पांडुलिपियों की क-ख-ग**' का प्रकाशन पोथियों के प्रति जिज्ञासा का भाव रखने वाले सुधीजनों के लिए ऐसी कुंजी है, जिसके माध्यम से उनकी कई समस्याओं का समाधान सहजता से होगा। संस्थान के द्वारा प्रकाशित किया जाने वाला यह कार्य पांडुलिपियों के संरक्षण की दिशा में अभिनव पहल है। जिसके लिये ग्रंथ लेखिका तथा संस्थान बधाई के पात्र हैं।

पुनः बधाई और मंगलकामनाओं के साथ,

(डॉ० अच्युतलाल भट्ट)
वृन्दावन, मथुरा

डॉ. विकास दवे
3, वी.आई.पी. धनश्री नगर, इंदौर
ई.मेल Vikasdave@gmail.com | मो. 09425912336

प्रबन्ध सम्पादक

देवपुत्र

राष्ट्रीय स्वच्छता अभियान में प्रधानमंत्री श्रीनरेन्द्र मोदी जी के अनुमोदित, डॉ.मृदुला सिन्हा (महामहिम राज्यपाल गोवा) द्वारा अभियान के ब्रांड एम्बेसडर मनोनीत।

सदस्य

- केन्द्रीय हिन्दी सलाहकार समिति, इस्पात मंत्रालय, केन्द्र सरकार
- नैतिक शिक्षा पाठ्यक्रम सलाहकार समिति, म.प्र. शासन
- गीता दर्शन सलाहकार समिति म.प्र. शासन
- साहित्य चयन समिति, म.प्र. साहित्य अकादमी

शुभकामना संदेश

संस्कृति के चिंतन की दिशा में अनेक स्तरों पर किये जा रहे कार्य तथा संचालित योजनायें इस ओर इंगित करती हैं कि भारतीय संस्कृति के गौरवशाली अतीत को समझने-समझाने तथा नये पक्षों पर कार्य करने की संभावनायें आज भी प्रबल हैं। अब आवश्यकता ऐसी संभावनाओं को नयी पीढी के मध्य साझा करने की भी है। ताकि वह इसका महत्त्व समझते हुए इस भाव के जन जागरण में स्वयं को सहभागी बना सकें। भले ही ज्ञान परम्परा से साक्षात्कार के तरीकों में श्रुति परम्परा के बाद क्रमशः पाण्डुलिपि, मुद्रित ग्रंथ एवं ई-बुक के रूप में निरन्तर बदलाव आता रहा, पर आज किसी भी प्रकार पाण्डुलिपियों का महत्त्व कम नहीं।

अगर हमें किसी साहित्यिक कृति के मुद्रित अंश में संशय होता है तो मूल की खोज में पोथियों की ओर जाना होगा। हस्तलिखित ग्रंथों तथा मुद्रण तकनीकी के मध्य लम्बे अन्तराल से आज बहुत-सी बातें विस्मृत हुई हैं। विस्मृति के इस बढ़ते प्रवाह को थामने के लिये आज प्रयास जरूरी है। इस हेतु वृन्दावन शोध संस्थान की यह दूरदर्शिता प्रशंसनीय है।

ग्रंथ लेखिका **प्रगति शर्मा** ने इस क्षेत्र में अपने अनुभव के आधार पर इस पुस्तक को सचित्र रूप में प्रस्तुत करके कहीं अधिक उपयोगी बना दिया है। आशा है यह ग्रंथ साहित्य जगत के साथ ही विद्यार्थी वर्ग को भी लाभान्वित करने में समर्थ रहेगा।

मंगलकानायें,

डॉ॰ विकास दवे

शुभकामना संदेश

साहित्य और संस्कृति की मूल संरचना पुरा-ग्रंथों से होकर गुजरती है। आज मुद्रित ग्रंथों का अपना प्रारूप है, जिसमें आवरण के ऊपर शीर्षक, लेखक का नाम, विषयानुक्रम, मूल्य तथा प्रकाशन वर्ष आदि सूचनायें अंकित रहती हैं। जिनसे ग्रंथ का परिचय सहज ही हो जाता है। अगर हम पुरातन ग्रंथों के उस युग की चर्चा करें तो उस जमाने में ग्रंथ का लिखना समय साध्य ही नहीं एक साधनापरक कार्य था। जिसमें ग्रंथों को तैयार करने वाले सुलेखक कष्ट सहते हुए पोथियों को तैयार करते रहे। कष्टपूर्वक लिखे गये ग्रंथों की सुरक्षा तथा संरक्षण के प्रति उनकी सजगता ने भारत में ग्रंथों के प्रति आदर का संस्कार बनाया। जिसकी अभिव्यक्ति ग्रंथ-लेखन करने वाले महानुभावों द्वारा पोथियों में अंकित **'कष्टेन लिखितं ग्रंथ यत्नेन परिपालयेत'** अथवा **'कष्टेन लिखितं ग्रंथ पुत्रवत् परिपालयेत्'** जैसे सद्विचारों से समझी जा सकती हैं। समय के बढ़ते प्रभाव से पोथियां हमसे दूर हुईं। आज स्थिति यह है कि इनका पढ़ा जाना किसी चुनौती से कम नहीं। प्रिंटिंग टेक्नोलॉजी से पूर्व हस्तलिखित पुस्तकों का वह दौर उस जमाने की आवश्यकता के हिसाब से परिपूर्ण था। जिसमें पोथियों को तैयार करने का अपना ही तरीका था। आज वह तमाम बातें हमसे दूर हैं। इस दूरी के चलते पोथियों का पढ़ा जाना भी आज दुष्कर हुआ है।

पांडुलिपि अध्येता प्रगति शर्मा ने पूरे मनोयोग से आज के विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुकूल **'पांडुलिपियों की क-ख-ग'** पुस्तक को रचनात्मक तरीके से सचित्र रूप में प्रस्तुत किया है। जिसका लाभ इस क्षेत्र में पदार्पण करने वाले नव अध्येता और भावी पीढ़ी को मिलना तय है। इस उपयोगी प्रकाशन के स्वागत के साथ ही लेखिका **प्रगति शर्मा** तथा वृन्दावन शोध संस्थान का पुनः - पुनः अभिनंदन,

शुभकामनाओं के साथ,

डॉ० इन्दु राव
सचिव,
अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी साहित्य संस्थान,
गुरूग्राम, हरियाणा

अध्यक्षीय

भारत विद्या [Indology] का अध्ययन-जगत व्यापक है। शोध की वर्तमान परम्परा में आज जहाँ विभिन्न प्रकार के अध्ययनों के लिये एक विस्तृत फलक दिखता है। वहीं प्राच्य विद्या से जुड़े कई संदर्भ काल के प्रवाह से विस्मृत भी हुए हैं। भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले संदर्भों का बहुविधि संरक्षण, शोध-प्रलेखन और उनके प्रकाशन की दिशा में वृन्दावन शोध संस्थान पिछले 05 दशकों से सतत् प्रयत्नशील है। इस दीर्घ अन्तराल में संस्थान ने संस्कृति के अध्ययन की दिशा में एक दृष्टि विकसित की है। जिसका प्रमुख उद्देश्य यह है कि प्राच्य विद्या के क्षेत्र में शोध एवं प्रकाशन के साथ ही हम, भविष्य के अध्येताओं के लिये भी ऐसा मार्ग प्रशस्त करें जिससे संस्कृति के अध्ययन की शृंखला निर्बाध बनी रहे।

वर्तमान समय में पठन-पाठन की परम्परा के अन्तर्गत पाण्डुलिपियों के प्रति लम्बे समय से व्याप्त दूरी ने नव पीढ़ी की दृष्टि में हस्तलिखित ग्रंथों [Manuscripts] को प्रायः संग्रहालय की वस्तु बना दिया है। उपेक्षा के इस दीर्घ अन्तराल ने इस समस्या को और अधिक दुरूह बनाया। यही कारण है कि आज प्रायः लोग मुद्रित पुस्तक से प्राप्त ज्ञान के आधार पर सूर, कबीर, मीरा एवं तुलसी आदि से परिचित तो है लेकिन इन साधकों के युग में प्रचलित तत्कालीन पुस्तकों (पोथियों) के सामने आने पर, उनके समक्ष इन्हें पढ़ने और समझने की समस्या आ खड़ी होती है। इसी उद्देश्य के दृष्टिगत संस्थान के द्वारा पाण्डुलिपियों के अध्ययन में आने वाली सामान्य व्यवहारिक परेशानियों का संकलन करते हुए ऐसी पुस्तक का प्रकाशन कराया जा रहा है, जिसके माध्यम से विद्यालयी छात्र-छात्रायें भी ज्ञान के इस पक्ष से साक्षात्कार कर सकें।

इस कार्य को संस्थान की शोध अध्येता **प्रगति शर्मा** ने **" पाण्डुलिपियों की क-ख-ग "** शीर्षक पुस्तक के माध्यम से इस उद्देश्य के साथ पूर्ण किया है कि संस्कृति प्रेमी सुधीजन, मुद्रण तकनीकी से पूर्व अक्षर ज्ञान के उस दौर से साक्षात्कार कर सकें जब हमारे साधक-आचार्य स्व-ज्ञान को पुरा-ग्रंथों में सुरक्षित कर रहे थे। इस कार्य के लिये उन्होंने नागरी लिपि की 16 से 20वीं सदी तक की पोथियों के सर्वेक्षण के आधार पर पाण्डुलिपियों से जुड़े व्यवहारिक ज्ञान के प्रस्तुतिकरण के रूप में विभिन्न पक्षों जैसे कालगणना के तरीकों, पुष्पिका के प्रयोजन, हरताल, हंस पद, हांसिया, डोरा पाटी, लघु शीर्षक तथा ग्रंथ खंडित होने पर उसकी कालगणना का आंकलन तथा शीर्षकों को ज्ञात करना जैसी अन्य-अन्य बातों को इस पुस्तक के अन्तर्गत सचित्र रूप में प्रस्तुत किया है।

आशा है नई पीढ़ी के मध्य पाण्डुलिपियों [Manuscripts] के प्रति जिज्ञासा का यह बीज वपन, छापेखानों के चलन से पूर्व के युग तथा मुद्रण तकनीकी के वर्तमान अत्याधुनिक दौर के मध्य सेतु का कार्य करेगा। जिसके माध्यम से आज की संस्कृति प्रेमी पीढ़ी भारतीय ज्ञान के उस धरातल को सहजता से समझ सकेगी जब उन साधकों के द्वारा स्व-अभिव्यक्तियाँ अपने ही तरीके से पोथियों में दर्ज की जा रहीं थीं।

आर॰ डी॰ पालीवाल
अध्यक्ष,
वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन

प्रकाशकीय

संस्कृति से जुड़े अनालोचित संदर्भों की खोज तथा इस दिशा में कार्य करने वाले लोगों से विचार साझा करते हुए भावी पीढ़ी का ध्यान इस ओर आकर्षित कराना और उन्हें प्राच्य विद्या के महत्व से अवगत कराते हुए ज्ञान की मूल धारणा से जोड़े रखना संस्थान के प्रमुख उद्देश्यों में एक हैं। शोध एवं प्रकाशन अनुभाग, हस्तलिखित ग्रंथागार, संदर्भ पुस्तकालय एवं ब्रज संस्कृति संग्रहालय आदि विभिन्न प्रकल्पों के माध्यम से हम इस दिशा में सतत प्रयत्नशील हैं कि संस्कृति के अध्ययन में लगे अध्येताओं के साथ ही विद्यार्थी वर्ग भी हमारी कार्य शैली एवं योजनाओं से लाभान्वित होता रहे। लगभग 28,000 हस्तलिखित ग्रंथों के साथ ही पुरालिपियों में लिखित विभिन्न प्रकार के दस्तावेज, संस्थान के हस्तलिखित ग्रंथागार की अपनी विशेषता है। संस्थान का सदैव यह प्रयास रहा है कि ज्ञान राशि का लाभ अधिकाधिक लोगों तक पहुँचे तथा युवा पीढ़ी संस्कृति के चिंतन में अपने विचार साझा करने के क्रम में हमसे जुड़ी रहे।

इस दिशा में संस्थान के द्वारा पाण्डुलिपियों के व्यवहारिक ज्ञान पर आधारित पुस्तक "**पाण्डुलिपियों की क-ख-ग**" का प्रकाशन किया जा रहा है। इस प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य यही है कि पोथियों के प्रति रूचि रखने वाले सुधीजनों के साथ ही विद्यार्थी गण भी प्रिंटिंग टेक्नालॉजी से पूर्व के युग में पाण्डुलिपि लेखन के अन्तर्गत प्रचलित विविधताओं से अवगत हो सकें। इस पुस्तक को शोध अध्येता **प्रगति शर्मा** ने सचित्र रूप में संदर्भों के साथ प्रस्तुत किया है। जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ी है। ग्रंथ लेखिका के साथ ही शोध एवं प्रकाशन प्रभारी डॉ॰ ब्रजभूषण चतुर्वेदी, ग्रंथ सेवी अशोक दीक्षित तथा टंकण कार्य हेतु कृष्ण कुमार मिश्रा एवं पारूल शर्मा भी बधाई के पात्र हैं। पुस्तक का मुद्रण श्रीधाम प्रेस वृन्दावन द्वारा सुरूचिपूर्ण ढंग से किया गया है। एतदर्थ उन्हें भी धन्यवाद। आशा है संस्थान का यह ग्रंथ लोकोपयोगी होगा।

सतीशचन्द्र दीक्षित
निदेशक
वृन्दावन शोध संस्थान

अनुक्रम

पृष्ठ सं॰

1. **पुरोवाक्**
   पाण्डुलिपियों के क-ख-ग की आवश्यकता क्यों ? ix

2. **देवानागरी लिपि वर्णमाला**

3. **पाण्डुलिपियों में प्रयुक्त संकेताक्षर तथा पोथी लेखन प्रविधि** 01-20
   1. पोथियों में प्रयुक्त संकेत चिह्न, 2.पाण्डुलिपियों में प्रयुक्त कुछ अन्य प्रतीक, 3.लघु शीर्षक, 4.विराम चिह्न, 5.पृष्ठांकन प्रणाली, 6. पाण्डुलिपियों के आकार-प्रकार, 7. रेखापाटी और कंबिका, 8. शिरोरेखा, 9. हरताल, 10.परकार, 11.कागज, 12.स्याही, 13. रंगीन स्याही, 14.सुनहरी एवं रूपहरी स्याही, 15.चित्रित पांडुलिपियां, 16. ग्रंथ-पुष्पिका 17.ताड़ पत्र पोथी, काष्ठ पट्टिका एवं कोथली

4. **पोथी में कालक्रम की अभिव्यक्ति** 21-29
   1. विविध प्रकार के सम्वत 2. अंक के लिये शब्द का प्रयोग 3. मास पक्ष और वार के पर्याय

5. **पाण्डुलिपियों में शब्दांक प्रविधि और कूट संकेत** 29-35

6. **प्रतिलिपिकार और पोथी परीक्षण** 36-44
   1. प्रतिलिपिकार 2. प्रतिलिपिकार की कठिनाइयाँ, प्रकार एवं योग्यताएँ 3. प्रतिलिपिकार की सजगता 4. पोथी का परीक्षण, 5. वंश वृक्ष

8. **अशुद्ध पाण्डुलिपियों को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ** 44-48

9. **छायाचित्र** 49-69
   परिशिष्ट, संख्याबोधक
   प्रचलित शब्द, संदर्भ ग्रंथ सूची

पुरोवाक्

पाण्डुलिपियों के क-ख-ग की आवश्यकता क्यों?

कभी ज्ञानार्जन के लिये लिखी गई पाण्डुलिपियाँ आज प्राय: नई पीढ़ी के लिये अब श्रद्धा का सबब बनकर रह गई हैं। मुद्रण तकनीकी के वर्तमान युग में छपे हुये अक्षरों को पढ़ने की अभ्यस्त वर्तमान पीढ़ी पुस्तकों की उस पूर्व पीठिका से प्राय: अपरिचित है जिसमें एक पुस्तक से दूसरी पुस्तक श्रम एवं समय साध्यता के साथ तैयार की जाती थी। वास्तव में मुद्रण तकनीकी [Printing Technology] से पूर्व, पोथियों का लिखा जाना और एक प्रति से आवश्यकता के अनुरूप अनेक प्रतियाँ तैयार करना एक जटिल प्रक्रिया थी। पोथियाँ लिखे जाने के उस युग में तत्कालीन पाण्डुलिपियों की अपनी संरचनायें निर्धारित थी। निश्चित संरचना के अनुरूप पाण्डुलिपि तैयार होती थी। समय के सापेक्ष यद्यपि यह संरचनायें अद्यतन होती भी रहीं तथापि पाण्डुलिपियों में आज की हस्तलिखित सामग्री की तरह मानवीय भूलों को संशोधित करने का विधान, भूलवश छूटे तथा गलत अंकित विवरण और महत्वपूर्ण तथ्य को दर्शित कराना जैसी बातें संकेताक्षरों के रूप में न केवल निरन्तर अस्तित्व में आती रही अपितु संशोधन एवं गलत लिखे जाने पर हरताल का प्रयोग तथा संशोधित सामग्री लिखे जाने का स्थान और इसी के साथ ग्रंथ का संक्षिप्त नाम एवं रचनाकाल और प्रतिलिपिकाल लिखे जाने को लेकर वैविध्यपूर्ण परम्परायें प्रचलित थीं। उल्लेखनीय है उस दौरान आज की पुस्तकों की तरह शीर्षक, लेखक का नाम, विषयसूची एवं प्रकाशन वर्ष के अंकन की परम्परा प्रचलित न थी। ग्रंथ की समाप्ति पर पुष्पिका में यह महत्वपूर्ण सूचना विविध प्रकार से दी जाती थी। उल्लेखनीय है कि रचनाकाल बताने के लिये उस युग में जहाँ अंकों को सीधे शब्दों में अभिव्यक्त किया गया वहीं कूट शब्दांक के द्वारा विभिन्न प्रकार के संवत् अंकित किये गये हैं। राजाओं के सिंहासन पर आरूढ होने का वर्ष, महत्त्वपूर्ण घटनाओं तथा संख्याबोधक प्रतीक और उनके पर्यायवाची शब्दों के आधार पर भी बुद्धि विलास करते हुए शब्दांकों का उल्लेख किया गया। जिन्हें वर्तमान युग में समझना किसी चुनौती से कम नहीं।

नव पीढ़ी का पाण्डुलिपियों के युग से साक्षात्कार कराने हेतु इस पुस्तक को अनेक हस्तलिखित ग्रंथागारों से नागरी लिपि की पोथियों का सर्वेक्षण करने के उपरान्त सचित्र रूप में इसी आशा के साथ तैयार किया गया है कि आज मुद्रण तकनीकी के युग में छपे अक्षरों को पढ़ने की अभ्यस्त युवा पीढ़ी प्रिंटिंग टैक्नोलॉजी से पूर्व, पुस्तकों के उन तत्कालीन तकनीकी एवं व्यवहारिक मायनों को भी समझ सकें। जिसमें पोथी लेखन से पूर्व कागज को पोथी की आवश्यकतानुसार फर्मा में तैयार करना, डोरा-पाटी का प्रयोग, लेखन में अशुद्धि होने पर हरताल की उपयोगिता, ग्रंथ का शीर्षक, लघु शीर्षक, स्याही, काल निर्धारण, शब्दांक पद्धति से अंक की पहिचान आदि पक्षों को यथासम्भव एक पटल पर लाने का प्रयास इस आशय के साथ किया गया है कि विद्यालयी छात्र-छात्रायें सहजतापूर्वक इनसे रू-बरू हो सकें। पुस्तक हेतु संदर्भ सामग्री संकलन के क्रम में वरिष्ठ पाण्डुलिपिविद पं॰उदयशंकर दुबे, पूर्व सर्वेक्षक नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, रसभारती संस्थान के डॉ॰हितजस अलिशरण, ब्रज संस्कृति शोध संस्थान के सचिव श्रीलक्ष्मीनारायण तिवारी, संस्थान के ग्रंथागार प्रभारी डॉ॰ ब्रजभूषण चतुर्वेदी, ग्रंथ सेवी अशोक दीक्षित, कृष्ण कुमार मिश्रा एवं गोपालशरण शर्मा आदि का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। जिसकी भरपायी शब्दों से नहीं की जा सकती। संस्थान के निदेशक श्री सतीशचन्द्र दीक्षित जी के मार्गदर्शन से यह कार्य लक्ष्य की ओर शीघ्रता से उन्मुख हो सका है। एतदर्थ सभी का आभार।

विषयानुक्रम में उल्लिखित क्रम के अनुसार विभिन्न विषयों को प्रभावी ढंग से दर्शाने के लिए पुस्तक में चित्रों का संयोजन भी किया गया है। ग्रंथ में कहीं शेष रही त्रुटि के लिए क्षमा प्रार्थना के साथ आशा है कि यह कार्य संस्कृति प्रेमी जिज्ञासुजनों के लिए उपयोगी होगा।

— प्रगति शर्मा

देवनागरी-लिपिमाला

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ
ओ	औ	अं	क	ख	ख	ग	घ
ओ	औ	अं	क	ख	ख	ग	घ
च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड
च	छ	ज	झ	ञ	ट	ठ	ड
ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प
ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प
फ	ब	भ	म	य	र	ल	व
फ	ब	भ	म	य	र	ल	व
श	ष	स	ह	क्ष	ज्ञ	त्र	ऋ
श	ष	स	ह	क्ष	ज्ञ	त्र	ऋ
		श्र	श्र				

१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	२	३	४	५	६	७	८	९

पाण्डुलिपियों में प्रयुक्त संकेताक्षर

तथा

पोथी लेखन प्रविधि

पुरा ग्रंथ राष्ट्र और समाज की वह बहुमूल्य धरोहर हैं, जिनके माध्यम से हम अपने गौरवशाली अतीत के सांस्कृतिक परिदृश्य को क्रमवार समझ सकते हैं। पाण्डुलिपियों के संदर्भ में इसके इतिहास और आरम्भिक पृष्ठभूमि से जुड़ी विस्तृत चर्चा से हटकर सीधा विषय पर आते हैं। वास्तव में लेखन कला ने आरम्भ से लेकर वर्तमान तक हर युग में स्वयं को अद्यतन रखा है। मुद्रण तकनीकी से पूर्व पाण्डुलिपियों में विभिन्न तथ्यों को व्यक्त करने के लिए विविध प्रकार के चिह्न प्रयुक्त होते थे। इस क्षेत्र में जिज्ञासा रखने वाले महानुभावों के लिये इनका ज्ञान आवश्यक है।

पोथियों में प्रयुक्त संकेत चिह्न—

(1) प्राचीन पाण्डुलिपियों में अशुद्ध अंश को काट देने की रीति पायी जाती है। परवर्ती काल में शिलालेखों एवं हस्तलेखों में लिपिकीय भूलों के ऊपर अथवा नीचे बिन्दु या छोटी खड़ी रेखा (troke) लगा दी जाती थी। और बाद में अशुद्धियों को हल्दी अथवा हरताल से पोत दिया जाने लगा। (चित्र-1) कभी-कभी हरताल से मिटाये हुए भाग पर भी लिखा मिलता है। अशुद्ध अथवा अधिक पाठ को आजकल के समान लकीर के द्वारा काट कर नया पाठ लिख देने की भी प्रथा थी।

(2) अशोक के एवं तत्कालीन अन्य शिलालेखों में भूल से छूटे हुए अक्षरों और शब्दों को पंक्ति के ऊपर अथवा नीचे दो शब्दों के बीच में लिख दिया जाता था और इसका कोई संकेत नहीं रहता था कि वे किस स्थान के हैं।

शिलालेखों एवं हस्तलेखों में छूटे हुए अंश को छोटे और खड़े अथवा झुके हुए काट-चिह्न तथा काकपद या हंसपद (+, ×, ^, >) के द्वारा व्यक्त किया जाता

था। (चित्र-06,11) काट-चिह्न के स्थान पर स्वस्तिक चिह्न (卐) का भी प्रयोग होता था। छूटे हुए अंश को उपान्त अथवा दो पंक्तियों के बीच में लिखा जाता था।

(3) अवाच्य अंशों को प्रदर्शित करने के लिए कुंडल अथवा अँगूठी और स्वस्तिक चिह्न का प्रयोग किया जाता था। कुण्डल (O) से वह अंश घेर दिया जाता था जिसको प्रतिलिपिकार पढ़ नहीं पाता था। जिस अंश को प्रतिलिपिकार नहीं समझ पाता था, उस संदर्भ में भी ऐसा ही करता था।

(4) अक्षर अथवा शब्द-विपर्यय- मान लिया जाय कि 'नभ' का 'भन' लिखा गया तो प्रतिलिपिकार इसे इस प्रकार शुद्ध करता था- भ[२] न[१]। शब्दों का विपर्यय होने पर भी इसी प्रकार किया जाता था। कार्य के दौरान मुझे 18वीं सदी में वृन्दावन में निवास करने वाले राजस्थान की किशनगढ़ रियासत के राजा सावंत सिंह (नागरीदास)के ग्रंथ 'वन जन प्रशंसा' की पोथी स्थानीय संग्रह में सुलभ हुई। जिसके द्वारा मुद्रण तकनीकी से पूर्व संशोधन की इस प्रक्रिया को सचित्र रूप में आसानीपूर्वक समझा जा सकता है। (चित्र-3)

(5) जिन पदों को पृथक्-पृथक् रहना चाहिए वे यदि गलती से मिला कर लिख दिये जाते थे तो इस भूल को दिखाने के लिए मिलित पदों के ऊपर खड़ी रेखा (।) खींच दी जाती थी। (चित्र- 6)

(6) पाठ-वृद्धि की ओर संकेत करने के लिए पांडुलिपियों में हंसपद का प्रयोग हुआ है। यथास्थान हंसपद बनाकर पाठ-वृद्धि का अंश उपांत में लिख दिया जाता था। यदा-कदा हंसपद बनाना छूट भी जाता था तब उपांत में वर्द्धित अंश यथावत देने की परम्परा थी। कभी-कभी यह विवरण हांसिये पर अंकित किया जाता था। (चित्र-6)

पांडुलिपियों में प्रयुक्त कुछ अन्य प्रतीक (Abbreviation)-

प्राय: संवत्, ऋतु, मास, पक्ष और दिन का बोध कराने के लिए संक्षिप्त चिह्न का प्रयोग मिलता है। छठी शताब्दी ईस्वी के बाद के पश्चिमी भारत के शिलालेखों में कहीं-कहीं अन्य शब्दों के लिए भी संक्षिप्त चिह्न का

प्रयोग हुआ है, यथा 'दूतक' के लिए 'दू'। ग्यारहवीं शताब्दी ई॰ से उपाधियों एवं कुल, जाति आदि के नामों के लिए संक्षिप्त चिह्नों का प्रयोग प्रचलित हो गया। ऐसा केवल शिलालेखों में ही नहीं, हस्तलिखित ग्रंथों में भी हुआ। खरोष्ठी धम्मपद में 'गाया' शब्द के लिए 'ग' का प्रयोग मिलता है। डॉ॰ वासुदेव उपाध्याय ने दक्षिण के सातवाहन, उत्तर पश्चिम के शक क्षत्रप तथा कुषाण लेखों में प्रयुक्त संक्षिप्त चिह्नों की सूची इस प्रकार दी है।[1]

सम्वत्सर	के लिए	सम्व, सव, सं या स
गृष्म [ग्रीष्म ?]	''	गृ॰ गै॰ गि॰
हेमंत	''	हे॰
दिवस	''	दि॰
शुक्ल पक्ष	''	सु॰ दि॰
बहुल पक्ष	''	ब॰ व॰ दि॰
द्वितीय	''	द्वि॰
सिद्धम	''	ओ॰ श्री॰ सि॰
राउत	''	रा॰

लघु शीर्षक-

ग्रंथ-पुष्पिका, जिसका उल्लेख पोथी के समापन पर रहता है, में जहाँ ग्रंथकार अपनी रचना का नामोल्लेख करता है, वहीं आरम्भ से समापन तक प्रत्येक पत्रक में इसके हांसिये पर ग्रंथ के लघु शीर्षक अंकित रहते हैं। पाण्डुलिपि के खण्डित अथवा पुष्पिका रहित होने पर लघु शीर्षक के द्वारा ग्रंथ के मुख्य शीर्षक (ग्रंथ का नाम) का निर्धारण करने में सहूलियत रहती है। पाण्डुलिपियों के क्षेत्र में कार्य करने वाले अध्येताओं के लिये यह जरूरी है कि उन्हें क्षेत्र विशेष की साहित्यिक परम्परा का बोध होना चाहिये। हाशिए में ग्रंथ का नाम संक्षेप में लिख दिया जाता था। (चित्र-4) जिस शब्द को दो बार

---

1. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन -डॉ॰ वासुदेव उपाध्याय,
मोतीलाल बनारसीदास, 1961, पृ॰ 260

लिखना होता था उसको एक बार लिखकर उसके आगे 2 लिख देते थे। संस्कृत में प्लुत उच्चारण के लिए सम्बद्ध वर्ण के आगे 3 लिखने की प्रथा रही है। जैन तथा बौद्ध ग्रंथ में देखा गया है कि एक स्थान पर यदि नगर, उद्यान आदि का वर्णन कर दिया गया है और फिर जब ऐसे वर्णन का प्रसंग आता है तो इसको दुहराने के बदले 'वणणओं (वर्णनम्) शब्द लिख दिया जाता था।

विराम-चिह्न-

पांडुलिपियों में विराम-चिह्न दिये जाने की रीति भी ज्ञातव्य है। विक्रम संवत् के पहले शिलालेखों में विराम-चिह्न प्रायः कम मिलता है। कहीं-कहीं सीधी और टेढ़ी-खड़ी रेखाएँ भी दिखती हैं। विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के चरणांत में एक सीधी-खड़ी रेखा और श्लोकांत में दो सीधी-खड़ी रेखाएँ नियमित रूप से देखी जा सकती हैं।

पृष्ठांकन-प्रणाली—

पृष्ठांकन के लिए सम्पूर्ण पत्र को ही इकाई माना जाता था, न कि उसके दोनों पृष्ठों को। दक्षिण भारत में संख्या पत्र के प्रथम पृष्ठ पर दी जाती थी और अन्यत्र दूसरे पृष्ठ पर। इसे पत्र के हाशिये में दिया जाता था। मुद्रण तकनीकी से पूर्व बायीं ओर वाले हाशिये में ऊपर और दाहिनी ओर के हाशिये में नीचे की तरफ पृष्ठांकन करने की परंपरा थी।

पाण्डुलिपियों के आकार-प्रकार —

प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ प्रायः खुले पत्रकों के रूप में ही होती थीं। हस्तलिखित ग्रंथागारों में विद्यमान पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि वर्तमान मुद्रण तकनीकी के इस युग में प्रचलित डिमाई, काफी टेबिल, स्टैन्डर्ड एवं अन्य-अन्य आकार की पुस्तकों की तरह ही पोथियों के युग में पाण्डुलिपियों के विभिन्न आकार-प्रकार निर्धारित थे। इनके छोटे-बड़े प्रकार का भेद बताने के लिए जो शब्द प्रयुक्त हैं उनसे पता चलता है कि पोथियाँ कई प्रकार की होती थीं।

दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्र कृत टीका में एवं निशीथचूर्णी आदि में पुस्तकों के 5 प्रकार इस तरह गिनाये गये हैं– [2]

(1) मुष्टी, (2) गण्डी, (3) कच्छपी, (4) छेदपाटी, (5) संपुट फलक। [3]

मुष्टी– छोटे आकार की ऐसी पोथी जो मुट्ठी में ली जा सके 'मुष्टी' कहलाती थी। इसकी लम्बाई चार अंगुल कही गई हैं। इस रूप में लिखे हुए छोटे-छोटे गुटके भी सम्मिलित किए जा सकते हैं। जो प्राय: विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत प्रचुरता से प्रतिलिपित किये जाते रहे। वृन्दावन शोध संस्थान के प्रकल्प ब्रज संस्कृति संग्रहालय में दुर्गा सप्तशती की सचित्र पोथी के साथ ही मैंने ब्रजमण्डल के वृन्दावन तथा कामवन में इस तरह की पोथियाँ निजी संग्रहों में देखी हैं। कहीं-कहीं इन्हें रजत निर्मित कलात्मक ताबीजों में भी संरक्षित किया गया है।

गण्डी–जो पुस्तक मोटाई और चौड़ाई में समान होकर लम्बी (Rectangular) होती है वह 'गण्डी' कहलाती है। वर्तमान में प्रचलित काष्ठ अथवा प्लास्टिक के चार-पाँच पैमानों (स्केल) को एकत्र कर बंडल बाँधकर इस पोथी का स्वरूप समझा जा सकता है। ताड़पत्र पर या ताड़पत्रीय आकार के कागजों पर लिखी हुई पुस्तकें 'गण्डी' प्रकार की होती है।

कच्छपी– कच्छपी या कछुए के आकार की अर्थात् किनारों पर सँकरी और बीच में चौड़ी पुस्तकें कच्छपी कहलाती हैं। इनके किनारे या छोर या तो त्रिकोण होते हैं अथवा गोलाकार।

---

2. गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुडफलए छिवाडीय। एयं पुत्थयपणयं, वक्खाण मिणं भवेतस्य॥
– दश वैकालिक हरिभद्री टीका, पत्र 25
भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला-मुनि पुण्य विजय जी,
पृ०22 पर 25वीं पाद टिप्पणी से उद्धृत।

3. मुनि पुण्य विजय जी ने भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला में पृ० 22 की 26वीं पाद टिप्पणी में बताया है कि कुछ विद्वान छिवाड़ी को सृपटिक मानते हैं। किन्तु मुनिजी वृहत्कल्पसूत्र वृत्ति तथा स्थानांग सूत्र टीका आदि मान्य ग्रन्थों के आधार पर छिवाड़ी को 'छेदपाटी' ही कहते हैं।

छेदपाटी— जिस पुस्तक के पत्र लम्बे और चौड़े तो कितने ही हों परन्तु संख्या कम होने के कारण उसकी मोटाई (या ऊँचाई) कम होती है उसको छेदपाटी छिवाड़ी या सृपाटिका कहा गया है।

संपुट-फलक— जिन पुस्तकों पर सुरक्षा के लिए ऊपर और नीचे काष्ठ-फलक लगे होते हैं, उनको 'सम्पुट फलक' कहा गया है। वहीं सचित्र काष्ठ-पट्टिकाओं अथवा लकड़ी की पट्टियों पर लिखित पुस्तकों को सम्पुट-फलक कहा जाता है।

रेखापाटी और कंबिका— मुद्रण तकनीकी के इस आधुनिक युग में आज लोग भले ही इस उपकरण को न पहचानें लेकिन एक समय पांडुलिपियों को तैयार किए जाने में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। रेखापाटी के साथ ही पांडुलिपियों के युग का एक अन्य उपकरण कांबी या कंबिका भी आज लोक विस्मृति के कगार पर है। प्रिंटिंग टेक्नोलॉजी से पूर्व युग में पांडुलिपियों के अंतर्गत रेखा हेतु निशान बनाने के उद्देश्य से रेखापाटी का उपयोग किया जाता था। ग्रंथों के आकार-प्रकार की दृष्टि से रेखापाटी भी अलग-अलग हुआ करती थीं। जिसमें समान दूरी पर धागे कसते हुए रेखापाटी को ग्रंथों के सांचों के अनुसार तैयार करते थे। (चित्र-2)

रेखापाटी के माध्यम से ताड़पत्र एवं कागज आदि पर रेखाएँ खींचकर उन पर लिखा जाता था। मात्राएँ (ि, ी, ु, ू) इत्यादि रेखा से ऊपर उठीं रहती थीं। पत्रों की दाहिनी ओर बायीं और सीधी खड़ी रेखा खींचकर हाशिया छोड़ दिया जाता था। 'रेखापाटी' का विवरण ओझाजी ने भारतीय प्राचीन लिपिमाला में दिया है। लकड़ी की पट्टी पर या पट्टे पर डोरियाँ लपेट कर और उन्हें स्थिर कर समानान्तर रेखाएं बना ली जाती हैं। इस पर लिप्यासन या कागज रखकर दबाने से समानान्तर रेखाओं के चिह्न उभर आते हैं। इस प्रकार पांडुलिपि लिखने में रेखाएं समानान्तर रहती हैं।[4]

4. भारतीय प्राचीन लिपिमाला- ओझा जी, पृ० 157

यही काम कांबी या कंबिका से लिया जाता है। यह लकड़ी की पटरी जैसी होती है। कहीं इसकी सहायता से भी कागज पर रेखाएं खींची जाती थीं।[5] कांबी का एक अन्य उपयोग होता था। पुस्तक पढ़ते समय हाथ फेरने से पुस्तक खराब न हो, इस निमित्त कांबी का उपयोग किया जाता था। इसे पढ़ते समय अक्षरों की रेखाओं के सहारे रखते थे, और उस पर उंगली रख कर शब्दों को बताते जाते थे। वैसे सामान्य रूप से यह बाँस की होती थी पर संभ्रान्त वर्ग के मध्य हाथी दांत, अकीक, चन्दन, शीशम एवं शाल आदि की कंबिकायें भी प्रचलित थीं।[6]

शिरोरेखा-

पांडुलिपियों में सारे शब्द मिलाकर लिखे जाते थे। कुछ पांडुलिपियों में शब्द अलग-अलग लिखे हुए भी मिलते हैं। कुछ में शब्दों का पार्थक्य दिखाने के लिए शब्द के अंत में शिरोरेखा के ऊपर एक छोटी खड़ी रेखा लगा दी जाती थी। (चित्र-06) शब्दों को मिलाकर लिखे रहने के कारण पांडुलिपियों के शब्द विग्रह करना एक कठिन कार्य होता है। शब्द-विग्रह में भूल होने के कारण बहुत से पाठांतर उत्पन्न हो जाते हैं और अर्थ-बोध दुष्कर हो जाता है। वर्षोत्सव की पोथी में संकलित श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के पद की दो पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं। जिसमें शुद्ध विग्रह का सही आंकलन न हो पाने पर पाठ-विकृति आना स्वाभाविक है। इस दोष से बचने के लिये यह जरूरी है कि अध्येता पोथी की पंक्तियों का पुनः-पुनः पाठ करते हुए शुद्ध पाठ की ओर बढ़े–

बाजत नंद भवन आजु बधाई।
खेलतगोपीगोपउमंगनिदूधदधिकीकीचमचाई॥

पद की दूसरी पंक्ति में रचनाकार का आशय 'दूध दधि कीच मचाई' है लेकिन शब्द विग्रह सही-ढंग से न कर पाने पर इसे प्रायः नये पाठक जल्दबाजी में दूध दधि की चमचाई भी पढ़ अथवा लिख जाते हैं।

यदि एक चरण के सारे शब्दों को सटाकर न लिखा जाता तो इस प्रकार का भ्रम नहीं होता।

---

5. भारतीय प्राचीन लिपिमाला- ओझा जी, पृ॰ 158
6. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला- मुनि जी, पृ॰ 19

हरताल— पुस्तक-लेखन में 'हड़ताल' लगाने का उल्लेख मिलता है। हड़ताल या हरताल का उपयोग हस्तलेखों में उन स्थलों या अंशों को मिटाने के लिए किया जाता था, जो गलत लिख लिये गये थे। 'हरताल' से पीली स्याही भी बनाई जाती है। हरताल फेर देने से वह गलत लिखावट पीले रंग के लेप से ढक जाती है। कभी-कभी हड़ताल के स्थान पर सफेदे का उपयोग किया जाता है। (चित्र-1)

परकार— प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में कभी-कभी विषय की समाप्ति आदि पर स्याही से बने कमल मिलते हैं। वे परकारों से ही बनाये हुए मिलते हैं। प्राय: पोथियों में परकार के द्वारा 04 अथवा 06 कली के फूल भी पुष्पिका के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होते हैं। (चित्र-13)

कागज- भक्तिकाल में कबीर वाणी से निसृत कागद और लिखनी (कलम) का उल्लेख बताता है कि भारत में 327 वर्ष ई.पू. मिलने वाले कागज सम्बन्धी विवरणों के बाद 15वीं सदी तक यह लेखन सामग्री अच्छे से प्रतिष्ठित हो चली थी—

सब धरती कागद करूं, लिखनी सब वनराय।
सात समुद्र की मसि करूं, गुरू गुन लिखा न जाय॥

(कबीर-वाणी)

स्याही की तरह कागज भी, प्रतिलिपि किये जाने के समय और स्थान की सूचना देता है। विभिन्न स्थानों तथा अलग-अलग कालक्रमों में कागज बनाने के तरीके और सामान भिन्न-भिन्न थे। भारत में कागज की उपस्थिति का आंकलन सिकन्दर के समय से किया जा सकता है। ईसा से 327 वर्ष पूर्व जब यूनान के बादशाह सिकन्दर ने भारत पर हमला किया तब उसके साथ निआर्कस नामक सेनापति आया था। उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखा है कि उस समय भारत के लोग रूई से कागज बनाते थे। निआर्कस सिकन्दर की उस चढ़ाई के कुछ समय तक पंजाब में रहा था और उसने यहाँ के हालचाल का अध्ययन करके भारत के लोगों का तत्कालीन विस्तृत वर्णन लिखा। इसका संक्षिप्त रूप एरिअन ने अपनी 'इंडिका' नामक पुस्तक में उद्धृत किया गया है। मैक्समूलर ने भी 'हिस्ट्री ऑफ एंशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक पुस्तक में इसी आधार पर भारतीयों के रूई को कूटकर कागज बनाने की कला से अवगत होने का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि रूई व चिथड़ों आदि को

भिगोकर लुगदी बनाने तथा उसको कूटकर कागज बनाने की विधि से भारतवासी ईसा से चार शताब्दी पूर्व भी अच्छी तरह परिचित थे। परन्तु किसी भी प्रकार ऐसा कागज ताड़पत्र और भोजपत्र की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सुलभ नहीं था इसीलिए इस पर लिखे ग्रन्थ कम मिलते हैं।

भारत में बहुत प्राचीनकाल से कागज बनता रहा है। यहाँ विविध स्थानों पर कागज बनाने के उद्योग स्थापित थे, जिनके यत्किंचित् परिवर्तित रूप अब भी पाये जाते हैं। कागज बनाना एक गृह उद्योग भी रहा है। यहाँ कश्मीर, दिल्ली, पटना, शाहाबाद, कानपुर, अहमदाबाद, खंभात, कागजपुरा (अर्थात् दौलताबाद), घोसुण्डा और सांगानेर[7] आदि स्थान कागज बनाने के केन्द्र रहे हैं और इनमें से कई स्थान तो इसी उद्योग के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। दौलताबाद का एक बड़ा भाग तो कागजपुरा ही कहलाता था। अहमदाबाद, घोसुण्डा और सांगानेर में तो कई परिवार कागज का ही उद्योग करते थे और अब भी करते हैं। इन लोगों की बस्तियों में जाकर देखने पर कई मकानों की दीवारों पर रूई, रद्दी कागज और चिथड़ों को भिगोकर गलाने के बाद लुगदी बनाकर कूटकर बनाए हुए कागज चिपके हुए मिलेंगे, जो सूखने के लिए लगाये जाते हैं। सूखने पर इनको शंख या कौड़ी अथवा हाथीदाँत के गोल टुकड़ों से घोंटकर चिकना बनाया जाता है जिससे स्याही इधर-उधर नहीं फैलती।

अकबर के काल में स्यालकोट में बना मानसिंही कागज खासा प्रसिद्ध रहा। प्रसिद्ध पांडुलिपिविद् श्रीगोपालनारायण बहुरा ने स्यालकोट में तैयार होने वाले मानसिंही कागज का विवरण उपस्थित किया है—

---

7. सांगानेर कस्बा जयपुर से 8 मील दक्षिण में है। वहाँ का कागज उद्योग प्रसिद्ध है। सवाई जयसिंह के पुत्र सवाई ईश्वरीसिंह के समय में इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला था। उनके समय में कागज की किस्म और माप कायम की गई और वह कागज 'ईश्वरसाही' कागज कहलाता था। कागज की चिकनाई के अनुसार उस पर राज्य की मोहर लगा दी जाती थी। तदनुसार वह कागज 'दो मोहरिया या 'डेढ़ मोहरिया' या 'मोहरिया' कहलाता था। इस व्यवसाय को करने वाले परिवार 'कागदी' या 'कागजी' नाम से प्रसिद्ध हैं। सांगानेरी कागज बहुत टिकाऊ होता है। भूतपूर्व जयपुर राज्य के बहीखाते, स्टाम्प पेपर और अन्य अभिलेख इसी कागज पर पाये जाते हैं। सामान्य रूप से सुरक्षित रखने योग्य सभी तहरीरें लिखने के लिए इसी का प्रयोग होता था। सत्रहवीं शताब्दी या इसके बाद में लिखे हुए बहुत-से ग्रन्थ भी सांगानेरी कागज पर लिखे पाये जाते हैं।

"स्यालकोट अकबर के सामने से ही एक प्रसिद्ध विद्या केन्द्र बन गया था। वहाँ पर लिखने पढ़ने का काम खूब होता था और कागज और स्याही बनाने के उद्योग भी वहाँ पर बहुत अच्छे चलते थे। स्यालकोट का बना हुआ बढ़िया कागज मानसिंही कागज के नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ पर रेशमी कागज भी बनता था। इस स्थान के बने हुए कागज मजबूत, साफ और टिकाऊ होते थे। मुख्य नगर के बाहर तीन 'ढांनियों' में यह उद्योग चलता था और यहाँ से देश के अन्य भागों में भी कागज भेजा जाता था। दिल्ली के बादशाही दफ्तरों भी प्राय: यहाँ का बना हुआ कागज काम में आता था।"

इसी प्रकार देश में काश्मीरी, मुगलिया, अरवाल, साहबखानी, खम्भाती, शणिया, अहमदाबादी, दौलताबादी एवं ईश्वरसाही आदि बहुत प्रकार के कागज प्रसिद्ध हैं और इन पर लिखी हुई पुस्तकें विविध ग्रन्थ-भण्डारों में प्राप्त होती हैं। विलायती कागज का प्रचार होने के बाद भी ग्रन्थों और दस्तावेजों को देशी हाथ के बने कागजों पर लिखने की परम्परा चालू रही है। 16वीं शताब्दी में वृन्दावन के संत जीव गोस्वामी जी को अकबर द्वारा ग्रंथ लेखन हेतु कागज सुलभ कराये जाने की बात हरिदासी सम्प्रदाय के साधक किशोरदास की रचना निजमत सिद्धान्त से उद्घाटित होती है—

पादशाह आज्ञा करी, पुस्तक देहु मँगाय।
जिमी काज दसखत किये कागद दए लिखाय॥

(निजमत सिद्धान्त-किशोरदास, मध्य खण्ड, छन्द-210)

ब्रजस्थ गौड़ीय सम्प्रदाय के ग्रंथागारों में विद्यमान संदर्भों के सर्वेक्षण से यह तथ्य उद्घाटित होते हैं कि बादशाह अकबर का जीव गोस्वामी जी के प्रति आकर्षण टोडरमल एवं मानसिंह के कारण था। टोडरमल के कहने पर ही जीव गोस्वामी के नाम भूदान विषयक फरमान जारी किया गया। जिसकी प्रति राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली तथा प्रतिलिपि वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन में है। उसी दौरान राजा मान सिंह के द्वारा वृन्दावन में गोविन्द देव का भव्य मंदिर बनवाया गया। मानसिंह जीव गोस्वामी जी के प्रति काफी श्रद्धा रखता

था। यही कारण है कि परिवर्ती काल में भी जयपुर रियासत एवं जीव गोस्वामी के उत्तराधिकारियों के मध्य लम्बे समय तक हुए पत्राचार के चलते अभिलेखीय सम्पदा की एक सतत् शृंखला मिलती है। ऐसे में यहाँ के वैष्णव साधकों को मानसिंही कागज की सहज सुलभता से ग्रंथ लेखन में काफी सहूलियत मिलती रहीं। कालांतर में जयपुर महाराज ईश्वरी सिंह जी के सम्बन्ध वृन्दावन के राधाबल्लभ सम्प्रदाय से भी निकट के रहे। राधाबल्लभ सम्प्रदाय की अपनी एक विशेषता वहाँ का विपुल भक्ति साहित्य है। जो पिछले 500 वर्षों में बड़ी तीव्रता से सृजित एवं प्रतिलिपित होता रहा। यद्यपि कागज-दान से सम्बन्धित कोई स्पष्ट सन्दर्भ मुझे यहाँ सुलभ न हो सका तथापि ईश्वरी सिंह से सम्प्रदाय की निकटता के उल्लेख सहजता से उपलब्ध होते हैं, जिसके आधार पर ब्रज-वृन्दावन में तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध ईश्वरी साही कागज की सुलभता से इन्कार नहीं किया जा सकता। साथ ही राजस्थान की विभिन्न रियासतों, बुंदेलखण्ड, बिहार, आसाम, मणिपुर, उड़ीसा, दक्षिण एवं बंगाल के आम व खास की ब्रज के प्रति बढ़ती श्रद्धा ने यहाँ जिस सांस्कृतिक परिदृश्य को जन्म दिया उससे ब्रज-वृन्दावन एक गुलदस्ते की तरह सजने लगा।

स्याही—

प्राप्त पाण्डुलिपि में स्याही की परीक्षा भी आवश्यक है। यदि पोथी में प्रतिलिपि काल और स्थान का उल्लेख नहीं है तो स्याही की परीक्षा से इन तथ्यों को समझने में सहूलियत रहती है। श्री गोपाल नारायण बहुरा के शब्दों में 'स्याही' के संदर्भों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

यों तो ग्रन्थ लिखने के लिए कई प्रकार की स्याहियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है परन्तु सामान्य रूप से लेखन के लिए काली स्याही सर्वाधिक प्रयुक्त हुई है। जिसे संस्कृत में 'मषी' या 'मसि' शब्द से व्यक्त किया गया है। इसका प्रयोग बहुत पहले से ही शुरू हो गया था।

जैन मत यह कथा प्रचलित है कि कश्यप ऋषि के वंशज राजा इक्ष्वाकु के कुल में नाभि नामक राजा हुआ। उसकी रानी मरुदेवी से ऋषभ

नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह ऋषभ ही नाभेय ऋषभदेव नाम से जैनों में आदि तीर्थङ्कर माने जाते हैं। कहते हैं कि आदिनाथ ऋषभदेव से पूर्व पृथ्वी पर वर्षा नहीं होती थी, अग्नि की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी, कोई कँटीला वृक्ष नहीं था और संसार में विद्या तथा चतुराईयुक्त व्यवसायों का नाम भी नहीं था। ऋषभ ने मनुष्यों को तीन प्रकार के कर्म सिखाये– 1. असिकर्म अर्थात् युद्ध विद्या, 2. मसिकर्म अर्थात् स्याही का प्रयोग करके लिखने-पढ़ने की विद्या, और 3. कृषि कर्म अर्थात् खेती-बाड़ी काम। इसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का ही रूप माना जा सकता है। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् 470 वर्ष पूर्व और ईसा से 526 वर्ष पूर्व माना गया है।

काली स्याही बनाने के कई नुस्खे मिलते हैं। उनमें कज्जल का प्रयोग सर्वत्र दिखाई देता है। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये कि ताड़-पत्र और कागज पर लिखने की काली स्याहियाँ बनाने की प्रविधियों में अन्तर है। ताड़पत्र वास्तव में काष्ठ जाति का होता है और कागज की बनावट इससे भिन्न होती है। इसीलिए इन पर लिखने की स्याही के निर्माण में भी यत्किंचत् भिन्नता है।

स्याही बनाने में कज्जल और जल के अतिरिक्त अन्य उपकरणों का मिश्रण करने की कल्पना बाद की होगी। प्राचीन उल्लेखों में केवल जल और कज्जल के ही सन्दर्भ मिलते हैं। यह भी हो सकता है कि इन दोनों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की गौणता रही हो। पुष्पदन्त विरचित महिम्नः स्तोत्र के एक श्लोक में स्याही, कलम, दवात और पत्र का सन्दर्भ है–

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानमीश पारं न याति॥

अर्थात् श्वेतगिरि (हिमालय) जितना बड़ा ढेर कज्जल का हो, जिसे समुद्र जितने बड़े पानी से भरे पात्र (दवात) में घोला जाय, देव वृक्ष (कल्प वृक्ष) की शाखाओं से लेखनी बनाई जाय (जो कभी समाप्त न हो) और समस्त

पृथ्वी को पत्र (कागज) बनाकर शारदा (स्वयं सरस्वती) लिखने बैठे और निरन्तर लिखती रहे तो भी हे ईश! तुम्हारे गुणों का पार नहीं है। महिम्नः स्तोत्र का रचनाकाल 9वीं शताब्दी से पूर्व का माना गया है किन्तु उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर कहा गया है कि मूल स्तोत्र के तो 31 ही श्लोक हैं, जो अमरेश्वरके मन्दिर में उत्कीर्ण पाये गये हैं। 15 श्लोक बाद में पाठकों द्वारा जोड़ लिये गये हैं।[8] परन्तु यह निश्चित है कि विस्तृत पत्र और स्याही आदि लेखन के आवश्यक उपकरणों के व्यापक प्रयोग के प्रमाण 8वीं शताब्दी के साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं— सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' कथा में भी एक ऐसा ही उद्धरण मिलता है—

त्वत्कृते यानया वेदानुभूता सा यदि नमः पत्रायते सागरो लोलायते ब्रह्मा लिपिकरायते भुजगपतिर्वाक्कथकः तदा किमपि कथमप्येकेकैर्युगसहस्रैरभि लिख्यते कथ्यते वा।[9]

अर्थात् आपके लिए इसने जिस वेदना का अनुभव किया है उसको यदि स्वयं ब्रह्मा लिखने बैठे, लिपिकार बने, भुजगपति शेषनाग बोलने वाला हो (सांप की जीभ जल्दी चलती है) और लिखने वाला इतनी जल्दी-जल्दी लिखे कि कलम डुबोने से सागर रूपी दवात में हलचल मच जाये तो भी कोई एक हजार युग में थोड़ा बहुत ही लिखा जा सकता है। 15-16वीं सदी तक तो लोक भाषा के रूप में कागद, लिखनी (कलम) और मसि के उल्लेख शृंखलाबद्ध रूप से मिलते हैं।

सातवीं शती ईस्वी से काली स्याही के लेख मिल जाते हैं। यह स्याही दीपक के काजल या धुँये से तो बनती ही थी, हाथी-दाँत को जलाकर भी बनायी जाती थी। कोयला भी काम में आता था।[10] बहुत चमचमाती लाल स्याही का उपयोग भी होता था।, विशेषतः आरम्भिक अक्षरों के लेखन में तथा प्रथम पंक्ति भी प्रायः लाल स्याही से होती थी। हरी और पीली स्याही का उपयोग प्रायः चित्रित पोथियों में यदा-कदा होता था। सोने और चाँदी से भी

---

8. Brown,W.Normon- The Mahimastava (Introduction), P.4-6.
9. वासवदत्ता कथा- जयदेव शुक्ल, पृ.39
10. The Encyclopaedia Americana, Vol.18,P.241

पुस्तकें लिखी जाती थीं। भारत में हस्तलेखों की स्याही[11] का रंग बहुत पक्का बनाया जाता था। यही कारण है कि पक्की स्याही से लिखे ग्रन्थों के लेखन में चमक अब तक बनी हुई है। प्रसिद्ध पाण्डुलिपिविद मुनि पुण्य विजय जी ने स्याही बनाने में प्रयुक्त होने वाली सामग्री तथा स्याही बनाने के पुरा संदर्भों के संकलन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। वहीं राजस्थान में उपयोग आने वाली स्याही के बनाने की विधि ओझाजी ने इस प्रकार बताई है—

पक्की स्याही बनाने के लिए पीपल की लाख को जो अन्य वृक्षों की लाख से उत्तम समझी जाती है, पीस कर मिट्टी की हँडिया में रखे हुए जल में डालकर उसे आग पर चढ़ाते हैं। फिर उसमें सुहागा और लोध पीस कर डालते हैं। उबलते-उबलते जब लाख का रस पानी में यहाँ तक मिल जाता है कि कागज पर उससे गहरी लाल लकीर बनने लगती है तब उसे उतार कर छान लेते हैं। उसको अलता (अलक्तक) कहते हैं, फिर तिलों के तेल के दीपक के काजल को महीन कपड़े की पोटली में रखकर अलते में उसे फिराते जाते हैं जब तक कि उससे सुन्दर काले अक्षर बनने न लग जावें। फिर उसको दवात में भर लेते हैं। राजपूताना क्षेत्र के पुस्तक लेखक अब भी इसी तरह पक्की स्याही बनाते हैं।[12]

ओझाजी ने कच्ची स्याही के सम्बन्ध में लिखा है कि यह कज्जल, कत्था, बीजाबोर और गोंद को मिला कर बनाई जाती है। परन्तु पन्नों पर जल

---

11. भारत में स्याही का पर्यायवाची मसी या मषी था। प्राचीनकाल में इन्हीं का उपयोग होता था। ई॰पू॰ के ग्रन्थ 'गृह्य-सूत्र' में यह शब्द आया है। 'मसी' का अर्थ डॉ॰ राजबली पांडेय ने बताया है— मसलकर बनायी हुई। ब्हूलर ने इसका अर्थ चूर्ण या पाउडर बताया है। स्याही के लिए एक दूसरा 'मेला' शब्द भी प्राचीन काल में कहीं-कहीं प्रयोग में आता था। व्हुलर ने 'मेला' की व्युत्पत्ति 'मैला' से मानी है। डॉ॰ चन्द्रबली पांडेय ने ठीक बताया है कि यह शब्द 'मैला' नहीं 'मेला' ही है जो मेल से बना है। स्याही में विविध वस्तुओं का मेल होता है। स्याही- स्याहकाला से व्युत्पन्न है, पर इसका अर्थ-विस्तार हो गया है। — ब्हूलर, पृ॰ 146 तथा डॉ॰ राजबली पांडेय, पृ॰ 84 मिश्राकंप और क्यू॰ कर्दियस जैसे यूनानी लेखकों की साक्षियों से यह सिद्ध है कि भारतीय कागज और कपड़े पर स्याही से ही लिखते थे। यह साक्षी 4थी शती ई॰ पू॰ की है।

12. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 155

गिरने से यह स्याही फैल जाती है और चौमासे में पन्ने चिपक जाते हैं।[13] अत: साधारण हिसाब-किताब में तो इसका प्रयोग हो सकता है पर ग्रन्थ लेखन के लिए यह अनुपयोगी है। आपने भोज-पत्र पर लिखने की स्याही के सम्बन्ध में लिखा है कि बादाम के छिलकों के कोयलों को गोमूत्र में उबाल कर यह स्याही बनायी जाती थी।[14] यही बात डॉ॰ राजबली पाण्डेय ने लिखी है—

In Kashmir, for writing of birch-bark, ink was manufactured out of charcoal made from almonds and boiled in cow's urine. Ink so prepared was absolutely free from damage when MSS were periodically washed in water-tubes.[15]

मूलत: कज्जल, बीजाबोल समान मात्रा में और इनसे दो गुनी मात्रा में गोंद को पानी में घोल कर नीम के घोंटे से ताम्र-पात्र में घुटाई करना ही कागज और कपड़े पर लिखने की स्याही बनाने की उपयोगी विधि है, अन्य रसायनों को मिलाने से वे उसको खा जाते हैं और अल्पायु बना देते हैं, जैसे— भाँगरा डालने से अक्षरों में चमक तो आती है परन्तु आगे चल कर कागज काला पड़ जाता है।[16] इसी तरह लाक्षारस, स्वांग या क्षर आदि भी हानिकारक हैं। बीआ रस बीआ नामक वनस्पति की छाल का चूर्ण बनाकर पानी मे ओटाने से तैयार होता है। इसको इसलिए मिलाया जाता है कि स्याही गहरी काली हो जाती है। परन्तु यदि आवश्यकता से अधिक बीआ रस पड़ जाय तो वह गोंद के प्रभाव को कम कर देता है और ऐसी स्याही के लिखे अक्षर सूखने के बाद उखड़ने लगते हैं। इसमें लाक्षारस इस कारण डाला जाता है कि इससे स्याही कागज से छूटती नहीं है।

रंगीन स्याही—

रंगीन स्याहियों का उपयोग भी ग्रन्थ लेखन में प्राचीन काल से ही होता है। इसमें लाल स्याही उपयोग बहुधा हुआ है। लाल स्याही के दो प्रकार थे—

---

13. प्राचीन भारतीय लिपिमाला - ओझा जी, पृ॰ 155
14. व्हूलर ने सूचना दी है (काश्मीर रिपोर्ट, 30) कि गफ पेपर्स (18-F) में राजेन्द्र मित्र ने टिप्पणियों में स्याही बनाने के भारतीय नुस्खे दिये हैं। — पृ॰ 146, पाद टिप्पणी, पृ॰ 537
15. Pandey, R.B.-Indian Palaeography, p.85
16. श्री गोपाल नारायण बहुरा की टिप्पणियाँ

एक अलता की, दूसरी हिंगलू[17] की। डॉ॰ पाण्डेय ने बताया है कि "Red ink was mostly used in the MSS for marking the medial signs margins on the right and the left sides of the text, 'so and so said thus' were written with red ink". [18]

'पुरा ग्रंथों के अन्तर्गत रंगीन स्याही के रूप में सर्वाधिक प्रयोग लाल स्याही का मिलता है। ग्रंथारम्भ में लिखे जाने वाली ईश वंदना अथवा गुरू वंदना, ग्रंथ की पुष्पिका और प्रत्येक पत्रक के हांसिये लाल स्याही से ही तैयार होते हैं। साथ ही विराम सूचक खड़ी लकीरें लाल स्याही से बनाई है। ज्योतिष सम्बन्धी पाण्डुलिपियों में जन्म-पत्र तथा वर्षफल के लम्बे-लम्बे खरड़ों में खड़े हाशिये, आड़ी लकीरें तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की कुण्डलियाँ लाल स्याही से ही बनाते हैं।[19] फलत: काली के बाद लाल स्याही का स्थान ही प्रमुखता से आता है।[20]

इससे आरम्भिक अक्षर तथा प्रथम पंक्तियाँ और शीर्षक लिखे जाते थे। संभवत: उन्हें इसी के चलते 'रुवैरिक्स' कहा गया तथा लेखक को 'रुब्रीकेटर'। जिसका अभिप्राय: लाल रंग से है। उधर भारत में लाल के बाद नीली स्याही का भी प्रचलन तीव्रता से हुआ। यत्र-तत्र हरी और पीली स्याही भी उपयोग में लाई गई। प्राय: जैन-पोथियों में हरी एवं पीली स्याही का प्रयोग देखा जा सकता है। पीली स्याही का प्रयोग हरताल के रूप में संशोधन हेतु भी किया जाता रहा।

पाण्डुलिपिविद ओझा जी ने बताते हैं कि सूखे हरे रंग को गोंद के पानी में घोल कर हरी जंगाली और हरताल[21] से पीली स्याही भी लेखक लोग बनाते हैं।[22]

---

17. हिंगलो को शुद्ध करके लाल स्याही बनाने की सविस्तार विधि भारतीय जैन श्रमण अने लेखन कला में पृ॰ 45 पर दी हुई है।
18. Indian Palaegraphy - Rajbali Pandey, p,85
19. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰156
20. '_ of coloured varieties red was the most common....' - Rajbali Pandey, Indian Palaeography, p.85
21. हरताल, हड़ताल के द्वारा गलत लिखे शब्द या अक्षर पर उसे फेर कर उस अक्षर को लुप्त किया जाता था।
22. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 44

सुनहरी एवं रूपहरी स्याही –

सोने और चाँदी की स्याही का उपयोग भी पुरा-ग्रंथों में प्रचुरता से हुआ है। धनिक लोगों के द्वारा जो पवित्र ग्रंथ दान दिये जाते थे, वे प्राय: स्वर्ण अथवा रजत स्याही से अलंकृत किये जाते रहे। प्रख्यात ग्रंथ सेवी मुनि जी ने सुनहरी एवं रूपहरी स्याही बनाने की विधि को रेखांकित किया है। वे बताते हैं ये स्याहियाँ सोने और चाँदी के वरकों से बनती थीं। वरक को खरल में डालकर गोंद के पानी के साथ खरल में खूब घोंटते थे। इससे वरक का चूर्ण तैयार हो जाता था। फिर शक्कर का पानी डालकर उसे खूब हिलाते थे। चूर्ण के नीचे बैठ जाने पर पानी निकाल देते थे। इसी प्रकार तीन-चार बार धो देने से गोंद निकल जाता था। इसके बाद शेष स्याही को संकलित करके प्रयोग में लाया जाता था।[23]

चित्रित पाण्डुलिपियाँ–

'ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना'[24] में बताया गया है कि सचित्र पांडुलिपि उस हस्तलिखित पुस्तक को कहते हैं जिसके पाठ को विविध चित्राकृतियों से सजाया गया हो और सुन्दर बनाया गया हो। यह सज्जा रंगों से या सुनहरी और कभी-कभी रूपहली कारीगरी से भी प्रस्तुत की जाती है। इस सज्जा में प्रथमाक्षरों को विशदतापूर्वक चित्रित करने से लेकर विषयानुरूप चित्रों तक का संयोजन होता था। भारत में रियासती संग्रहों के साथ ही प्राय: सभी वैष्णव सम्प्रदायों और जैन ग्रंथागारों में चित्रित पोथियाँ बहुतायत से मिलती हैं। ऐसी सजावट का आरम्भ पश्चिम में 14वीं शताब्दी से माना जाता है। दाँते ने और चॉसर ने ऐसे चित्रित हस्तलेखों का उल्लेख किया है।

---

23. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ.44

24. Encyclopaedia Americana, Vol.18 p.242

ग्रंथ-पुष्पिका (Colophon)

पुस्तक के अंत में और कभी-कभी यदि पुस्तक खंडों में विभक्त है तो प्रत्येक खंड के अंत में भी पुस्तक और रचनाकार का नाम, प्रतिलिपिकार का नाम, स्थान, उद्देश्य और उसकी तिथि आदि सूचनाएँ दी रहती हैं। इस सूचना केन्द्र को ग्रन्थ पुष्पिका शब्द से संबोधित किया गया है। ग्रंथ की पुष्पिकाओं में प्राचीन स्थानों के तत्कालीन नामों की उपलब्धता भी प्रमाणिक संदर्भ के रूप में उपयोगी है।

हस्तलिखित ग्रंथों की पुष्पिकाओं का अध्ययन करना स्वयं में बड़ा मनोरंजक विषक है। हस्तलेखों की परंपरा, लेखनस्थल, लिपिकार आदि की जानकारी पुष्पिका से ही होती है। पाठ संपादन में कौन-सी प्रति अधिक उपयोगी है इसका निराकरण, पाठ और पुष्पिका दोनों का अध्ययन करते हुए किया जाता है। इन ग्रंथ-पुष्पिकाओं में ऐतिहासिक महत्त्व की दुर्लभ जानकारियाँ भी विद्यमान रहती हैं। यथा- अलग-अलग कालक्रमों में लिखित पोथियाँ नगरों के बदले नामों का विवरण प्रस्तुत करती हैं वहीं इनके माध्यम से यदा-कदा ग्रंथ के लिखवाने का प्रयोजन भी स्पष्ट होता है। वृन्दावन के हित परमानन्द शोध संस्थान में संरक्षित साँझी पोथी शीर्षक ग्रंथ की पुष्पिका से यह प्रकट होता है कि इस पोथी को वि.सं. 1860 में वृन्दावन निवासी हित परमानन्द जी ने दतिया के राजा राव पारीछत सिंह देव जू महाराज के पठनार्थ तैयार किया था। यह इस ग्रंथ की पुष्पिका में दतिया को दिलीप नगर नाम से सम्बोधित किया जाना ग्रंथ पुष्पिकाओं के इस महत्त्व की ओर इंगित करता है। (चित्र-14)

यही नहीं इन ग्रंथ पुष्पिकाओं के माध्यम से हमें यदा-कदा ग्रंथों के बदले नामकरण के संदर्भ में भी दुर्लभ जानकारियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वृन्दावन शोध संस्थान में क्र.5425 पर संरक्षित 16वीं सदी का सूचीपत्र [Catalogue] बताता है कि इस अवधि तक भारतीय संस्कृति का लोकप्रिय ग्रंथ महाभारत उस दौरान 'भारत' नाम से जनविश्रुत रहा। यही कारण है कि चैतन्य महाप्रभु की परंपरा के षड गोस्वामियों में एक जीव गोस्वामी जी के ग्रंथागार के इस सूचीपत्र में इसे भारत ग्रंथ के नाम से ही अंकित किया गया है। (चित्र-17) वही कालांतर में लिखी पोथियों में यह महाभारत नाम से मिलता है। (चित्र-18) उल्लेखनीय है कि धर्म की जय के रूप में इसे जहां आरंभ में जय उत्सव कहा

गया वहीं अलग-अलग कालक्रमों में इसे भारत और महाभारत के रूप में जाना गया है। वर्तमान में यह महाभारत के रूप में ही लोकप्रिय है। भारतविद्या के मनीषी वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने ग्रंथ 'भारत सावित्री' में लिखा है कि उपाख्यानों से रहित सहस्त्र श्लोकों की चतुर्विंशति साहस्त्री संहिता भारत के नाम से प्रसिद्ध थी। वहीं अनेक उपाख्यानों को आत्मसात करके लक्ष श्लोकात्मक महाभारत की शत साहिस्त्री संहिता बन गई। वास्तव में ग्रंथ पुष्पिकायें इतिहास अध्ययन का महत्वपूर्ण स्त्रोत है। 16वीं सदी में वृन्दावन में बांके बिहारी जी के प्राकट्यकर्ता स्वामी हरिदास जी पदावलियां वर्तमान में केलिमाल के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिसे स्वामी जी की रचना के नाम से स्वीकारा गया है। उल्लेखनीय है 18वीं सदी के लगभग रचित पोथियों में जहां इस रचना को केलिमाल नाम से संबोधित किया गया है, वहीं आरंभिक पांडुलिपियों में इस रचना का उल्लेख 'स्वामी जू कृत पदावली या स्वामी जू की वाणी' के रूप में मिलता है।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों से संबंधित समस्त जानकारी का ज्ञान होना इस क्षेत्र में पदार्पण करने वाले अध्येता के लिए जरूरी है। हस्तलेखों में प्रयुक्त सन्-संवतों की संख्या शब्दों में भी व्यक्त करने की परंपरा रही है। इसी के साथ यहाँ ग्रंथों का रचनाकाल अंक एवं शब्दांक के माध्यम से ही नहीं अपितु जीवन-मरण, निर्माण, घटना-विशेष, विजय-पराजय के संवत् आदि से भी अभिव्यक्त किये जाने की परम्परा रही है। कुछ प्रतियों में पुष्पिका के अन्तर्गत लिपिकाल नहीं मिलता, जिसे प्रतिलिपिकार की असावधानी कह सकते हैं। वैसे प्रतिलिपि करते समय रचनाकाल भी लिखना अच्छा रहता है। कभी-कभी लिपिकाल को ही रचनाकाल समझ लेने से बड़ी दिक्कतें खड़ी हो जाती हैं।

कभी-कभी कोई प्रतिलिपिकर्त्ता पुष्पिका में यह भी अंकित कर देता है कि ग्रंथ के तैयार हो जाने पर उसे कितना परिश्रमिक मिला। इससे उस काल में पुस्तक की प्रतिलिपि करने का लेखक को क्या मूल्य मिलता था- उसका बोध हो जाता है और समाज में पुस्तक प्रेमियों की आर्थिक दशा का भान होता है। पुष्पिका के अन्तर्गत ही प्रतिलिपिकारों ने ग्रंथों में अपनी अल्पज्ञता तथा असावधानी और उससे उत्पन्न होने वाली अशुद्धियों की बार-बार चर्चा की है- ''**जैसी प्रति पाई हती तैसी लई उतारि**'' और ''**यदि शुद्धमशुद्धं वा मन दोषो न दीयते**''।

(आगामी प्रतिलिपिकार विषयक अध्याय में दृष्टव्य)

ताड़ पत्र पोथी, काष्ठ पट्टिका और कोथली—

भारत में कागज के अलावा ताड़ पत्र, बांस पत्र एवं भोज पत्र पर लिखने की पुरानी परंपरा रही है। जिसमें ताड़ पत्र लिखे ग्रंथ आज भी बहुतायत से मिलते हैं। ताड़ पत्र की पोथियां तैयार करने तथा उन्हें रखे जाने की पद्धति कागज की पोथियों से अलग है। ताड़ पत्र ग्रन्थ के पन्ने अस्त-व्यस्त न हो जाय इसलिए उनकी लम्बाई के बीचों बीच छेद करके एक डोरा नीचे से ऊपर तक पिरो दिया जाता था। (चित्र-20) इस डोरे से सभी पत्र नत्थी होकर यथास्थान रहते थे। लेखक प्रत्येक पन्ने के बीच में एक स्थान कोरा छोड़ देता था। यह स्थान डोरे के छेद के लिए ही छोड़ा जाता था।

डोरी से ग्रन्थ या पुस्तक के पन्नों को सूत्र-बद्ध करके इन डोरों को काष्ठ की उन पट्टिकाओं में छेद करके निकाला जाता था, जो पुस्तक की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार काट कर ग्रन्थ के दोनों ओर लगाई जाती थीं। इनके ऊपर डोरियों को कस कर ग्रन्थि लगाई जाती थी।[25] ताड़ पत्रीय पुस्तकों की यह प्राचीन प्रणाली है। हर्ष चरित में सूत्रवेष्टनम् का उल्लेख मिलता है। इन डोरों को उक्त काष्ठपाटी में से निकाल कर ग्रन्थि या गाँठ देने के लिए विशेष प्रणाली अपनाई गई- लकड़ी, हाथीदाँत या नारियल के खोपड़े का टुकड़ा लेकर उसे गोल चिपटी चकरी के रूप में बना लेते हैं। उसमें छेद कर उस डोर या डोरी की इस चकरी में से निकाल कर बाँधते हैं, यथार्थ में ये चकरियाँ ही ग्रन्थि या गाँठ कही जाती हैं। ताड़ पत्र की पोथियों की तरह ही कागज की पोथियाँ जो खुले पत्रकों के रूप में होती थीं उसमें ऊपर तथा नीचे की ओर काष्ठ-पट्टिकाओं का प्रयोग करते थे। यह काष्ठ-पट्टिकायें बहुविधि चित्रित होती थीं। (चित्र-19) इसी के साथ पोथियों को जिस लाल कपड़े में लपेट कर डोरी से बांधते हुए रखा जाता था, उन्हें कोथली कहा गया है। इन कोथलियों में विषय के अनुरूप कई पोथियां सुरक्षित रखी जाती थीं। (चित्र-21)

25.Wooden covers, cut according to the size of the sheets, were placed on the Bhurja and Palm leaves, which had been drawn on starings, and this is still the custom even with the paper MSS. In Southern India the covers are mostly pierced by holes, through which the long strings are passed. The latter are wound round the covers and knotted. - Bubler, G. _ Indian Palaeography, p.147

पोथी में कालक्रम की अभिव्यक्ति

मुद्रण तकनीकी के वर्तमान अति आधुनिक युग में छपी हुई पुस्तकों से घिरे लोगों के लिए विषयसम्मत हस्तलिखित पोथी तक पहुँचना बड़ी बात है। दूसरे यदि अध्येता येन केन प्रकारेण वांछित पाण्डुलिपि को प्राप्त भी कर लें तो उसके समक्ष एक बड़ा संकट उसे समझ पाना और पढ़ना है। हस्तलिखित ग्रंथों के संदर्भ में एक बड़ी समस्या उनका कालक्रम ज्ञात करने की है। जिससे यह पता लगाया जा सके कि जो पोथी हमें प्राप्त हुई है वह किस समय की है?

आमतौर पर यह समझा जाता है कि पांडुलिपि की पुष्पिका में अगर कालक्रम अंकित है तो उसका समय ज्ञात करने में कोई दिक्कत ही नहीं। जबकि हकीकत यह है कि पोथी का कालक्रम अंकित होने अथवा न होने, दोनों परिस्थितियों में समय-अवधि को ज्ञात करना चुनौतीपूर्ण कार्य है। उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न पांडुलिपियों में काल संकेत भी बहु-विधि अंकित किये गये। ऐसे में काल संकेत के विभिन्न प्रचलित प्रकारों से अवगत होना भी जरूरी है। प्रसिद्ध संवतों के साथ ही अनेक पांडुलिपियाँ ऐसी भी मिलती हैं जिनमें राजा के राज्यारोहण वर्ष के आधार पर कालगणना लिखी जाती है। ठीक इसी तरह घटना विशेष को केन्द्रित कर कालगणना का आधार तथा धार्मिक पांडुलिपियों में आचार्यों के प्रादुर्भाव वर्ष को लेकर कालक्रम लिखे जाने उल्लेख ग्रंथ पुष्पिकाओं में मिलते हैं। वैष्णव सम्प्रदायों के अंतर्गत निम्बार्काब्ध, रामानुजाब्ध, हिताब्ध (चित्र-5) आदि की समृद्ध शृंखला देखी जा सकती हैं। वहीं विविध प्रकार के प्रचलित कालक्रमों को निम्नानुसार समझा जा सकता हैं—

विविध प्रकार के सम्वत्

विक्रम संवत्— ईसवी सन् से 57 वर्ष पूर्व इसका आरंभ माना जाता है।

शक संवत्— शक-संवत् अपने 500 वें वर्ष तक प्राय: बिना 'शक' शब्द के मात्र 'वर्षे' या कभी-कभी मात्र 'संवत्सरे' शब्द से अभिहित किया जाता रहा। शक 500 वें वर्ष से 1262 वें वर्ष के बीच इसके साथ 'शक' शब्द लगने लगा, जिसका अभिप्राय यह था कि 'शकनृपति के राज्यारोहण के समय से'।

शाके शालिवाहने— फिर चौदहवीं शताब्दी में शक के साथ शालिवाहन और जोड़ा जाने लगा। 'शाके-शालिवहन-संवत्' वही शक-संवत् था, पर नाम उसे शालिवाहन का और दे दिया गया।

शक-संवत् विक्रम संवत् से 135 वर्ष उपरान्त अर्थात् 78 ई॰ में स्थापित हुआ। इस प्रकार विक्रम सं॰ से 135 वर्ष का अन्तर शक-संवत् में है और ईसवी सन् से 78 वर्ष का।

पूर्वकालीन शक-संवत्— यह विदित होता है कि शकों ने अपने प्रथम भारत-विजय के उपलक्ष्य में 71 या 61 ई॰ पू॰ में एक संवत् चलाया था। इसे पूर्वकालीन शक-संवत् कह सकते हैं। विमकडफिस का राज्य-काल इसी संवत् के 191 वें वर्ष में समाप्त हुआ था। यह संवत् उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ क्षेत्र में उपयोग में आया था। बाद का शक-संवत् पहले दक्षिण में आरम्भ हुआ फिर समस्त भारत में प्रचलित हुआ।

कुषाण संवत्— (यह कनिष्क संवत् भी कहलाता है) इसकी स्थापना सम्राट् कनिष्क ने ही की थी। वह संवत् कुछ इस तरह लिखा जाता था + 'महाराजस्य देवपुत्रस्य कणिष्कस्य संवत्सरे 10 ग्रि 2दि9।' इसका अर्थ था कि महाराजा देव पुत्र कनिष्क के संवत्सर 10 की ग्रीष्म ऋतु के दूसरे पाख के नवमें दिन या नवमी तिथि को।

कनिष्क ने यह संवत् ई॰ 120 में चलाया था। इसका प्रचलन प्रायः कनिष्क के वंशजों में ही रहा। 100 वर्ष के लगभग ही यह प्रचलित रहा होगा। इसके बाद उसी क्षेत्र में पूर्वकालीन शक-संवत् का प्रचार हो गया। संवत् के ही नाम हैं निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं।

गुप्त संवत् तथा वलभी संवत्— विद्वानों का निष्कर्ष है कि गुप्त-संवत् चन्द्रगुप्त-प्रथम द्वारा चलाया गया होगा। इसका आरम्भ 319 ई॰ में हुआ। यह चैत्रादि संवत् है और चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है। इसका उल्लेख 'गतवर्ष' के रूप में होता है, जहाँ 'वर्तमान' वर्ष का उल्लेख है, वहाँ एक वर्ष अधिक गिनना होगा।

वलभी (सौराष्ट्र) के राजाओं ने गुप्त-संवत् को ही अपना लिया था पर उन्होंने अपनी राजधानी 'वलभी' के नाम पर इस संवत् का नाम 'गुप्त' से बदलकर 'वलभी' संवत् कर दिया था, क्योंकि वलभी संवत् भी 319 ई० में आरम्भ हुआ, अत: गुप्त और वलभी में कोई अन्तर नहीं।

हर्ष-संवत्— यह संवत् श्री हर्ष ने चलाया था। इन्हें भारत का अन्तिम सम्राट माना जाता है। अलबेरूनी ने बताया कि एक काश्मीरी पंचांग के आधार पर हर्ष विक्रमादित्य से 664 वर्ष बाद हुआ। इस दृष्टि से हर्ष-संवत् 599 ई० में आरम्भ हुआ। हर्ष-संवत उत्तरी भारत में ही नहीं नेपाल में भी चला और लगभग 300 वर्ष तक चलता रहा।

ये कुछ संवत् अभिलेखों और शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि के आधार पर प्रामाणिक हैं। इन्हें प्रमुख संवत् कहा जा सकता है। इनको ऐतिहासिक हस्तलेखों के काल-निर्धारण में सहायक माना जा सकता है।

पर, भारत में और कितने ही संवत् प्रचलित हैं जिनका ज्ञान होना इसलिये भी आवश्यक है कि पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को न जाने कब किस सन् संवत् से साक्षात्कार हो जाय।

सप्तर्षि संवत्— लौकिक-संवत्, शास्त्र-संवत्, पहाड़ी-संवत् या कच्चा संवत्। ये सप्तर्षि-संवत् के ही विविध नाम हैं। यह संवत् कश्मीर और पंजाब में प्रचलित रहा है।

कलियुग-संवत [26]— भारत-युद्ध संवत् एवं युधिष्ठर-संवत् भी यही है। सामान्यत: ज्योतिष ग्रन्थों में लिखा जाता है, पर कभी-कभी शिलालेखों पर भी मिलता है। इसका आरम्भ ई० पू० से माना जाता है। चैत्रादि गत विक्रम-संवत् में 3044 जोड़ने से, गत शक-संवत् में 3179 जोड़ने से, और ईसवी सन् में 3101 जोड़ने से, गत कलियुग-संवत् आता है।

---

26. कलियुग-संवत् भारत-युद्ध की समाप्ति का द्योतक है और युधिष्ठिर के राज्यारोहण का भी। अत: इसे भारत-युद्ध-संवत् कहते हैं। कलियुग नाम से यह न समझना चाहिये कि इसी संवत् से कलि आरम्भ हुआ। कलियुग कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था।

बुद्ध निर्वाण-संवत्— बुद्ध निर्वाण के वर्ष पर बहुत मतभेद है। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी 487 ई०पू० में अधिक सम्भव मानते हैं। अतः बुद्ध-निर्वाण-संवत् का आरम्भ 487 ई०पू० से माना जा सकता है। बुद्ध-निर्वाण-संवत् का उल्लेख करने वाले शिलालेखादि संख्या में बहुत कम मिले हैं।

बार्हस्पत्य-संवत्सर— ये दो प्रकार के मिलते हैं- एक 12 वर्ष का दूसरा 60 वर्ष का।

हिजरी सन् — यह सन् मुसलमानों में चलने वाला सन् है। मुगलों के यहां आने पर यह भारत में भी चलने लगा। इसका आरम्भ 15 जुलाई 622 ई० तथा संवत् 679 श्रावण शुक्ला 2, विक्रमी की सायं से माना जाता है, क्योंकि इसी दिन पैगम्बर मुहम्मद साहब ने मक्का छोड़ा था, इस छोड़ने को ही अरबी में 'हिजरह' कहा गया है। जिसकी स्मृति में हिजरी सन् प्रचलित है। इस सन् की प्रत्येक तारीख सायंकाल से आरम्भ होकर दूसरे दिन सायंकाल तक चलती है। प्रत्येक महीने के 'चन्द्र दर्शन' से महीने का आरम्भ माना जाता है।

'शाहून' सन्, 'सूर' या 'अरबी' सन्— इसके महीनों के नाम हिजरी सन् के महीनों के नाम पर ही हैं। पर, इसका वर्ष सौर वर्ष होता है, हिजरी की तरह चन्द्र नहीं। जिस दिन सूर्य मृगशिर नक्षत्र पर आता है, 'मृगेरवि', उसी दिन से इसका नया वर्ष आरम्भ होता है, अतः इसे 'मृग-साल' भी कहा जाता है।

फसली सन्— यह सन् अकबर ने चलाया। फसली शब्द से ही विदित होता है कि इसका 'फसल' से सम्बन्ध है। 'रबी' और 'खरीफ' फसलों का हासिल निर्धारित महीनों में मिल सके इसके लिये इसे हिजरी सन् 971 में अकबर ने आरम्भ किया। हिजरी 971 वि० सं० 1620 में और ईस्वी 1563 में पड़ा। इस फसली सन् में वर्ष तो हिजरी के रखे गये पर वर्ष सौर (चांद्रसौर) वर्ष के बराबर कर दिया गया। महीने भी सौर (या चन्द्रसौर) मान के माने गये।

अंक के लिए शब्द का प्रयोग-

ग्रंथ पुष्पिकाओं से काल गणना को समझने के लिये इस विषय पर आना जरूरी है। ग्रंथ के समापन पर उल्लिखित पुष्पिकाओं में जहाँ अंकों को साधारण रूप से शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है, वहीं दृष्टिकूट के प्रयोग से इसमें रचनाकारों ने बहुविधि बुद्धि कौशल भी दर्शाये है। जिनसे कभी-कभी

सही कालगणना हेतु पर्याप्त माथा-पच्ची करनी पड़ जाती है। जिस प्रकार अंक के स्थान पर अक्षर का प्रयोग हुआ उसी प्रकार शब्द का भी प्रयोग देखा जा सकता है। शब्दों से अंक दर्शाने की रीति बहुत पुरानी है। वैदिक साहित्य में इसके उदाहरण मिलते हैं। शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में ४ के लिए 'कृत', कात्यायन और लाट्यायन श्रौतसूत्रों में २४ के लिए 'गायत्री' और ४८ के लिए 'जगती' एवं वेदांग ज्योतिष में १, ४, ८, १२ के लिए क्रमशः 'रूप', 'अय', 'गुण', 'युग' और 'भसमूह' शब्दों का प्रयोग हुआ है।[27] शिलालेखों और ताम्रपत्रों में इस रीति से अंक लिखे गये हैं। संस्कृत, हिंदी आदि भाषाओं के बहुत कवियों ने अपने ग्रंथों का रचनाकाल इसी पद्धति से दिया है।

शब्दों द्वारा संख्या सूचित करने के दो प्रकार थे। प्रथम में किसी वस्तु या व्यक्ति का नाम ही संख्या सूचित करता है। अपने वर्ग में किसी वस्तु या व्यक्ति की जो क्रम-संख्या होती है उस वस्तु या व्यक्ति का नाम उसी संख्या का वाचक होता है। यथा तीर्थंकरों की संख्या चौबीस है और उनमें कुंथुनाथ की क्रम-संख्या सत्रह है, अतः 'कुंथुनाथ' शब्द १७ संख्या का वाचक होगा। द्वितीय प्रकार में जो पदार्थ गणना में जितना होता है उस पदार्थ का वाचक शब्द उतनी संख्या को सूचित करता है। उदाहरणार्थ वेद चार हैं, अतः 'वेद' शब्द ४ का बोधक होगा। राजाओं के राज्यारोहण वर्ष[28], संत-आचार्यों के जन्म-आविर्भाव तिथि मंदिरों में श्रीविग्रह के स्थापित करने की तिथि आदि के आधार पर भी कालगणना के संकेत मिलते हैं। शब्दों से संख्या सूचित करने के सम्बंध में एक सूत्र प्रचलित है- **अंकानां वामनो गतिः**। कहीं-कहीं 'वामन गतिः' की आंशिक अथवा पूर्ण अवज्ञा भी देखी जाती है।

---

27. राय बहादुर पंडित गौरीशंकरहीराचंद ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, तीसरा सं० २०१६ वि०, पृ० १२१

28. वृंदावन में 16वीं सदी के दौरान आमेर के राजा मानसिंह के द्वारा यहां गोविंददेव का मंदिर बनवाया गया। जिसके शिलालेख में इसे बादशाह अकबर के शासन के 34वें वर्ष में बनाया जाना अंकित किया है— **संवत् 34 श्री शकवंध अकबर सहराज श्रीकर्म कुल, श्री पृथीराजाधराज वन्श महाराज श्रीभगवंत दास सुत, श्री महाराजाधराज श्री मानसिंघ देव श्री वृन्दावन जोगपिठ स्थान मन्दिर कराजौ...**

इस पद्धति की कई कठिनाइयाँ हैं। कोई-कोई शब्द विभिन्न संख्याओं का सूचक होता है, अतः ऐसे शब्दों के द्वारा अनेक संख्याएँ सूचित की हुई मिलती हैं, यथा 'रस' से ६ और ९ का, 'पक्ष' से २ और १५ का, 'भुवन' से ३, ७ और १४ का, 'गुण' से ३ और ६ का बोध कराया गया है। इसका कारण यह है कि किसी-किसी शब्द के दो भिन्न अर्थ होते हैं। एक अर्थ में वह एक संख्या को प्रकट करता है तो दूसरे अर्थ में वही शब्द दूसरी संख्या का बोध कराता है। उदाहरणार्थ 'युग' शब्द का एक अर्थ 'जोड़ा' है और इस अर्थ में वह २ का बोधक हैं किंतु इसका एक अर्थ काल विशेष भी है और इस अर्थ में वह ४ का सूचक है। इसी तरह 'श्रुति' शब्द का अर्थ 'कान' और 'वेद' दोनों होने के कारण यह शब्द २ और ४, दोनों संख्याओं का वाचक होगा। फिर, कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं से सम्बद्ध होने पर अलग-अलग संख्या रखते हैं। जैसे अंग यदि वेद के हों तो ६ का, राज्य के हों तो ७ और योग के हों तो ८ का बोधक होगा। इसलिए जिन शब्दों द्वारा एक से अधिक संख्या सूचित होती है उनकी एक तालिका नीचे दी जा रही है—[29]

शब्द	सूचित संख्याएँ	शब्द	सूचित संख्याएँ
अंग	५, ६, ७, ८, ११	गुण	३, ६, ९
आदित्य	१, १२	गुप्ति	३, ९
इंद्र	१, २४	गो	१, ९
ईश्वर	४, ११	गोत्र	१, ७
करल	३, ६	घस्र	२, १५
करांगुलि	४, ५, २०	चंद्रकला	१५, १६
कर्म	८, १२	छिद्र	०, ९
ख	०, ९	जगती	१२, ४८
खर	३, ८	जीव	१,६
गज	३,८	तत्व	३,५,७,९,२५,२८
गिरि	५,७	दंड	१,३
दिशावाची शब्द	४,८,१०	रस	६,९
दुर्ग	९,१०	राशि	१,१२
द्वीप	७,८, १८	लोक	३,७,१४

29. नागरी प्रचारिणी पत्रिका- अगरचंद नाहटा, वर्ष ४६, अंक २, पृ० ११९-२०

नरक	७,४०	वर्ण	४,५,६
नाग	७, ८	वसु	७, ८
पक्ति	०, १०	वहि	३, ५
पक्ष	२, १५	वाजी	३, ७
पर्वत	७, ८	वायु के पर्यायवाची	
पवन	५, ९	शब्द	५, ४९
पुर	३, ७	विकृति	६, ४९
प्रकृति	१४, २१, २५	विद्या	३,१४, १८
ब्रह्म	१, ३, ८	विधु	१, ४
भुवन	३, ७, १४	विश्व	१३, १४
भूखंड	६, ९	वेद	३, ४
मही	१, ७	श्रीमुख	५, ७
मुनि	३, ७	शिव	३, १०, ११
मेरु	१, ५	श्रुति	२, ४, ८, २०
यति	६, ७	समुद्रवाची शब्द	४, ७
युग	२, ४	सुर	५, ६, ७, ८, ३३
रंध्र	०, ९	स्वर	५, ६, ७, ८
रत्न	३,५,९,१३,१४	हरनेत्र	५, ६, ७, ८
रद	१, ३२		

इस सूची में दी हुई सूचनाओं को अंतिम नहीं समझना चाहिए। यह एक अनुसंधाता के अनुभव का परिणाम है। अन्य सुधीजनों के अनुभव से इस सूची का समृद्ध होना अपेक्षित है। उदाहरणार्थ 'पवन' और 'वायु के पर्यायवाची शब्द' को देखा जाय। 'पवन' को ४९ के लिए भी प्रयुक्त होना चाहिए और इसी प्रकार वायु पर्यायवाची शब्दों को ९ का भी बोधक होना चाहिए। इस सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख परिशिष्ट में संकलित हैं।

मास-पक्ष-वार के पर्याय-

ग्रंथ पुष्पिकाओं को भली प्रकार समझने के लिये उनके अंतर्गत उल्लिखित मास, पक्ष एवं वार के पर्यायों का बोध होना जरूरी है। कई अवसरों पर जब इनके मान नहीं बैठते, तो तत्कालीन देशकाल और वातावरण अथवा रचना के धरातल के अनुसार चिंतन करते हुए इस गुत्थी को सुलझाने का

प्रयत्न करना चाहिये। तिथि के उल्लेख में मास-पक्ष-वार का नाम रहता था। किंतु इनके लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ जिनसे शोधार्थी को अवगत होना चाहिए। नीचे कुछ पर्यायों की सूची दी जा रही है।[30]

मास

चैत्र- चैत, चैत्रिक, मधु।
वैशाख- माधव, राध, वैसाख।
ज्येष्ठ- जेठ, शुक्र, तपन।
आषाढ़- शुचि, असाढ़, हाड़।
श्रावण- नभ, श्रावणिक, सावन, नभ, श्रुचौ।
भाद्रपद- प्रौष्ठपद, भाद्र, भादों, भादव, नभस्य।
आश्विन- इष, अश्वयुज, क्वार, कुआर।
कात्तिक- कार्त्तिकि, बाहुल, कातिक, ऊर्ज्ज।
मार्गशीर्ष- मगशिर, मगसिर, अग्रहण, अगहन, मार्ग, आग्रहायनिक, सहस।
पौष- रहस्य, पूस, तैष।
माघ- तप, माह।
फाल्गुन- फाल्गुनिक, तपस्य।

पक्ष

कृष्णपक्ष- बदि, असित, बहुल, मेचक।
शुक्लपक्ष- सुदि, विसद, वलक्ष, छावल, सित, श्वेत, उजुआला।

वार

रविवार- सूर्य, अर्क, इतवार, इत्यादि सूर्यवाची सभी नाम।
सोमवार- चंद्र इत्यादि सभी चंद्रवली नाम।
मंगलवार- अंगारक, कुज, भौम, भूमिसुत, लोहितांग।
बुधवार- सौम्य, चंद्रसुत, चंद्रज, जारज, रोहिणेय, ज्ञ, विद्, विदिच।
बृहस्पतिवार- गुरु, सुरगुरु, आंगिरस, सुराचार्य, गीष्पति, जीव, धिवण, वाचस्पति।

---

30. रामचरितमानस, काशिराज संस्करण - डॉ० माताप्रसाद गुप्त, 'आत्मनिवेदन', पृ० ८

शुक्रवार- कवि, काव्य, दैत्यगुरु, उशना, भार्गव, दैत्यराज, आदिदेव, गुरुचित्र, शिखंडिन्।

शनिवार- शनैश्चर, मंद, मंदचाल, छायासुत, सौरि, रविनंदन, अर्कि, मंदग्रह।

पाण्डुलिपियों की शब्दांक प्रविधि एवं कूट संकेत

ग्रंथ पुष्पिकाओं के अन्तर्गत शब्दांक के द्वारा जहाँ साधारण रूप से कालक्रम अंकित किये गये, वहीं अनेक रचनाकारों ने इसमें बुद्धि विलास की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। ऐसे में कई पोथियों का आंतरिक परीक्षण करते हुए कूट शब्दांक को देशकाल तथा वातावरण के अनुसार समझा जाता है। पुष्पिका न होने पर जहाँ पोथी के बाह्य परीक्षण, कागज एवं स्याही के आधार पर रचनाकाल का निर्धारण किया जाता है, वहीं शब्दांक पद्यति से युक्त ग्रंथ पुष्पिका को समझने के लिये खासी सावधानी अपेक्षित है। पुरा ग्रंथों में विविध अवसरों पर प्रयुक्त शब्दांक केवल ग्रंथ-पुष्पिकाओं में मात्र कालगणना के लिये ही नहीं अपितु साहित्य सृजन में इनकी समृद्ध शृंखला मिलती है। नव अध्येताओं का इस पारम्परिक रीति से साक्षात्कार इसलिये भी जरूरी है कि वे इन कूट संकेतों में अभिव्यक्त आशय को समझने में, प्रयुक्त शब्द के अर्थ को बड़े फलक पर देखते हुए विषय सम्मत भाव को समझ सकें। साहित्य लहरी रचना में सूरदास ने एक स्थल पर 'मन' (हृदय) शब्द को अभिव्यक्त करने के लिये जिन संख्याबोधक शब्दों को प्रयोग किया है उससे कूट काव्य की शब्दांक परम्परा को समझा जा सकता है- **'ग्रह नक्षत्र अरू वेद जासु घर, ताहि कहा सारंग (दीपक) सम्हारे'** अर्थात् जिसके घर में मणि है उसे दीपक की क्या आवश्यकता है।

ब्रजभाषा में रचित इस पद में सूर ने ग्रह के लिये 09, नक्षत्र के लिये 27 और वेद के लिये 04 का प्रयोग किया है। इस प्रकार इन अंकों का योग 40 बैठता है और 40 सेर का एक मन होता है। अत: 'ग्रह नक्षत्र अरू वेद' शब्द का अर्थ हुआ 'मन'।

इसी क्रम में रसखान की प्रेमवाटिका का उदाहरण दृष्टव्य है-

विधु[1] सागर[7] रस[6] इन्दु[1] सुभ बरस सरस रसखान।
प्रेम वाटिका रूचिर-रूचिर, चिर हिय हरषि वखान॥

इसमें रस शब्द को 6 अंक का संकेत मानकर प्रेम वाटिका का रचनाकाल संवत् 1671 निर्धारित किया गया है। शब्दांक पद्यति से काल निर्धारण चुनौतीपूर्ण कार्य है। रचनाकाल की गणना करते समय अध्येता के लिये जरूरी है कि वह ग्रंथ में वर्णित संदर्भों का गम्भीरतापूर्वक परीक्षण कर ले। इस परिप्रेक्ष्य में अगर हम प्रेमवाटिका ग्रंथ की उपरोक्त पुष्पिका को देखें तो रस शब्द के लिये [9] के अंक का प्रयोग भी हुआ है। ऐसे में अगर हम इस आधार पर उक्त ग्रंथ का रचनाकाल, 'अंकानां वामनो गति' सूत्र का अनुपालन करते हुए निर्धारित करें तो वि.सं. 1971 उपस्थित होता है। जबकि रसखान के द्वारा इसकी रचना संवत 1671 में की गई। प्राय: प्रसिद्ध ग्रंथों के रचनाकाल तो पूर्व से ही स्पष्ट रहे हैं। पर अप्रसारित ग्रंथों के संदर्भ में यह विवेचन गम्भीरतापूर्वक किये जाने अपेक्षित हैं।

स्वामी हरिदास जी की परम्परा में किशोरदास जी के द्वारा रचित निजमत सिद्धान्त की ग्रंथ पुष्पिका जिसमें कूट शब्दांक का प्रयोग न करते हुए अंकों को ही उच्चारण रूप में शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है—

"इति श्री निजमत सिद्यान्त सार ग्रंथे अवसान महंत किशोर दास जू विरचतायां उपासना तत्व सिद्धन्त संपूर्णम्॥ समाप्तं॥

अठरासै छत्तीस का दोयज तिथी वषानि।
गुरुवार दिन पूरौ कियौ, निजमत सिद्धांतहि जानि॥
जा विधि उप प्रति में लिषी, ता विधि लिखी विचारि।
शुद्ध अशुद्ध मम दोष नहिं, लीज्यौ संत सँवारि॥

प्रथम श्रावण मध्ये लिषितं जोसी गंगाधार निवासी अजब गढ़ का॥ सहर जय नगरे मध्ये॥" सूचनिका- निजमत सिद्धान्त।

राजस्थान की किशनगढ़ रियासत के राजा सावंत सिंह ब्रज-वृन्दावन में आकर नागरीदास के नाम से लोकप्रिय हुए। इनके द्वारा ब्रजभाषा में कई ग्रंथ लिखे गये। उनके कुछ ग्रंथों की पुष्पिकायें दृष्टव्य हैं—

मनोरथ मंजरी

संवत् सतरासौंअसी, चोदसि मंगलवार।
प्रकट मनोरथ मंजरी, बदि आसू अवतार॥
जो बाँचे सीखैं सुनैं, रीझि करैं फिरि प्रश्न।
जो सतसंगति कीजियो, पहुँचे जै श्री कृष्ण॥[31]

रसिक रत्नावली

कही रसिक रत्नावली, पूरन प्रेम प्रकाश।
सुरति हियें ब्रजबास की, धारि 'नागरीदास'॥
सतरैसै बाइयासियों, भादौं सुदि भृगुवार।
तिथि परिवा कीन्ही इहैं, लीज्यो संत सुधार॥[32]

निकुंज विलास

यह वृन्दावन यह समैं, यह दम्पति की प्रीति।
नागरियाँ कैं हिय बसो, नीति बिहार रसरीति॥
उचित नहीं कहनी इती, रह केलि-रस काम।
"नागरिया" को दोस कहा, प्रेरक श्यामा-श्याम॥
श्री राधे कीजै कृपा चहत नागरीदास।
अपनैं वृन्दा विपुन कौं, देहु बास सुख रास॥
सतरासैं चौरानवाँ, पून्यौ अगहन मास।
ग्रंथ निकुंज-विलास यह, कियो नागरीदास॥[33]

बिहार-चन्द्रिका

सतरासै अठसासिया, संवत् सावन मास।
नव बिहर यह चंद्रिका, करी नागरी दास॥[34]

---

31. नागरीदास कृत 'मनोरथ मंजरी' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 45-46
32. नागरीदास कृत रसिक 'रत्नावली' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 19-20
33. नागरीदास कृत 'निकुंज विलास' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 102-105
34. नागरीदास कृत 'बिहार-चन्द्रिका' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 84

भक्ति सार

सुख पायौ पूरन भयैं ग्रंथ जू भाषाचार।
सतरासै निन्यानवै, द्वैज द्यौस गुरूवार॥
द्वैज द्यौस गुरूवार मास सावन मन भावन।
कृष्ण पक्ष सुभ मंत्र संत श्रवन सुहावन॥
भक्ति सार उच्चार कियो निज मन समुझायो।
"नागरीदास" न कहूँ विमुख काहू सुख पायो॥[35]

ब्रज सार

परम तत्व को तत्व यह, नागर विपिन विहार।
जान्यौं चाहैं सार यह, तौ तू पढि ब्रज सार॥
सत्रहसै निन्यावै, पोष जु सुदि रविवार।
सुधि नागरिदास यह, कियौ ग्रन्थ ब्रज सार॥[36]

ब्रज बैकुण्ठ तुला

धन ब्रज धन ब्रज बासिया, धन ब्रज परम उपास।
धन्य फाग रस रीति ब्रज, नागर हियैं निवास॥
समत अठारासैं जु इक दिन बसन्त शुभ मास।
ब्रज-बैकुण्ठ तुला कियो, ग्रन्थ "नागरीदास"॥[37]

फाग विहार

"नागर" वैष्णव जोग्य यह, ग्रंथ जु फाग विहार।
रहसि उपासिक रस भरे, समझवार रिझवार॥
समत अष्ट दस शत जु पुन, अष्ट वर्ष मधु मास।
ग्रंथ गंग तट कृष्ण पक्ष, कियो नागरीदास॥[38]

---

35. नागरीदास कृत 'भक्ति सार' ग्रंथ की पुष्पिका
36. नागरीदास कृत रसिक 'ब्रज सार' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 62-63
37. नागरीदास कृत 'ब्रज बैकुण्ठ तुला' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 48-49
38. नागरीदास कृत 'फाग विहार' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 34-35

जुगल भक्त-विनोद

अष्टादश शत अष्ट पुन, संवत् माघ सुमास।
जुगल भक्त गुन ग्रन्थ यह, कियो नागरीदास॥
निकट कमाऊ परबतनि, विकट विटप की भीर।
तहाँ ग्रन्थ रचना भई, नदी कौशिकी तीर॥[39]

बाल-विनोद

नंदगाँव ब्रज बाल कनि देखत बढ्यौ हुलास।
कीनौ बाल विनोद यह, ग्रन्थ नागरीदास॥
समत अष्टदस सत जु नव, मास अश्विन भृगुवार।
तिथ षष्टी अरु शुकल पख, रच्यो ग्रंथ विस्तार॥[40]

वन विनोद

मथुरा लीला द्वारिका, डारो मन पग पेलि।
बसी 'नागरीदास' हिय, ए ब्रज ग्वैंई केलि॥
समत अठारासैं जु नव, कृष्ण पक्ष मधुमास।
वन-विनोद कल ग्रंथ यह, कियो नागरीदास॥[41]

वन जन प्रशंसा

अष्टादस सतदश जु नव, समबत माघ सुमास।
वन-जन प्रसंश कल ग्रन्थ यह, किया नागरीदास॥[42]

वृन्दावन के सेवाकुंज स्थल में राधाबल्लभ सम्प्रदाय के वाणीकार चाचा हित वृन्दावनदास की रचना कृष्ण सगाई अभिलाष बेली लिखे जाने का उल्लेख—

ठारह सै बारह बरस, रसमय फागुन मास।
शुक्ल पक्ष एकादशी, बेली भई प्रकास॥

---

39. नागरीदास कृत 'जुगल भक्त-विनोद' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 7-8
40. नागरीदास कृत रसिक 'बाल विनोद' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 34-35
41. नागरीदास कृत 'वन विनोद' ग्रंथ की पुष्पिका छन्द सं॰ 2-3
42. नागरीदास कृत 'वन जन प्रशंसा' ग्रंथ की पुष्पिका

ब्रजरानी अभिलाष यह, कृष्ण सगाई हेत।
श्री वृन्दावन धाम मधि, तीरैं सेवा कुंज॥[43]

ब्रज की सांस्कृतिक राजधानी कहे जाने वाला वृन्दावन एक लम्बे समय तक ग्रंथ लेखन का केन्द्र भी रहा है। यहाँ सुदूर क्षेत्रों से तत्कालीन जिज्ञासु जन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करने हेतु आते रहे। इस कार्य के दौरान सुलभ ध्रुवदास जी की वाणी विषयक पोथी की पुष्पिका से यह उल्लेख प्राप्त हुआ कि वि.सं. 1876 में किसी राधिकादास नामक संत ने वृन्दावन में रासमण्डल के पास ध्रुवदास जी की कुंज में निवास करने वाले गौरीदास जी के संग्रह से इस पोथी की प्रतिलिपि तैयार की—

इति श्री ध्रुवदास जी की वानी कौ समै प्रबन्ध श्री कृष्णदासजी भाई कौ भाव विचार संपूर्ण समापितः॥ यामें जो कछु भूल चूक होइ सो रसिक जननि सौं विनती है कृपा करिकै सम्हार लैंनौं॥ संवत॥1876॥ कातिक वदी 11 शुक्रवार, हस्ताक्षर श्रीमद गोस्वामी श्री श्री श्री श्री वंशीलालजी महाराज कौ दास राधिकादास लिखी श्रीमद रासमण्डल के पास श्री ध्रुवदास जी महाराज की कुञ्ज में श्री गौरीदास के पास ते लिखी।[44]

वहीं एक अन्य ग्रंथ पुष्पिका में—

सप्तदश शत द्विनवति॥1792॥ श्रीवैशाख मासे शुक्ल पक्षे एकादशाश्यां भौमवासरे श्रीवृन्दावन धामे श्रीहित मण्डल समीपे लिखीं स्वहस्तेन प्रेमदासेन स्वपठनार्थ इदं पुस्तकं सम्पूर्ण॥शुभं भूयात॥ श्रीमद्व्यासनन्दनाय नमः॥श्रीश्री॥[45]

मयाराम द्वारा रचित कृष्ण लीला निज सार ग्रंथ की पुष्पिका जिसमें प्रतिकार ने ग्वालियर को गोपाचल नाम से सम्बोधित किया है।

सत्रहसै नब्बे और तीनि राजा विक्रम के,
सावन को मास तिथि आमा सोमवार है;
गोपाचल ताको कहैं सब ग्वालियर
ग्वाली सिंध राजै गढ़ सोभा को बिहार है।

---

43. कृष्ण सगाई अभिलाष बेली, रसभारती संस्थान, वृन्दावन
44. ध्रुवदास जी की वाणी, वि.सं. 1876 की प्रति, रसभारती संस्थान, वृन्दावन
45. वृंदावन के वैष्णव लिखिया - डॉ.राजेश शर्मा

पूरन पुरान तहाँ कवित बनाय कन्हों,
दासातन भाव और नाहिन विचार है;
राखे मन आश वास वृंदावन भावै जाहि;
गावे 'मयाराम' कृष्ण लीला निज सार है।[46]

देश-कालानुसार पुष्पिका लेखन की अलग-अलग परंपराएँ हैं। हस्तलेखों में प्राप्त पुष्पिकाएँ जहाँ एक ओर हमें रचना और रचयिता के सही समय और स्थिति का ज्ञान कराती हैं, वहीं प्रतिलिपिकारों की कुशलता-सजगता, स्थान विशेष (जहाँ पर ग्रंथ की प्रतिलिपि की गयी), ग्रंथ स्वामी के विषय में पूरी जानकारी देती है। वैसे अधिकतर ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ राजा-रानियों, राजकुमार-राजकुमारियाँ तथा समाज के सुरुचि सम्पन्न रईसों के लिए तैयार की जाती है। यह कार्य श्रद्धा के धरातल पर चलता रहा। ब्रज वृंदावन के मंदिरों में आने वाले तीर्थयात्रियों तथा राजे-महाराजों के द्वारा मांग किये जाने पर भक्ति साहित्य की पोथियां स्थानीय प्रतिलिपिकारों द्वारा सुलभ करायी जाती थी। वृंदावन निवासी हित परमानंद जी के द्वारा वि.सं. 1860 में दतिया रियासत के राजा राव पारीछित सिंह देव जू महाराज के पठनार्थ लिखी पांडुलिपि की पुष्पिका का चित्र दृष्टव्य है। (चित्र सं.14) वहीं इस कार्य के दौरान मुझे वि.सं. 1712 के दौरान वृंदावन में किसी राजबाई नामक महिला प्रतिलिपिकार के द्वारा तैयार की गई, राधासुधानिधि ग्रंथ (गो.हित हरिवंश महाप्रभु की रचना) की प्रतिलिपि देखने का सुअवसर रसभारती संस्थान में प्राप्त हुआ। इस प्रति को राजबाई ने गुजरात के रहने वाले किसी दामोदरदास नामक तीर्थयात्री के लिये तैयार किया। वहीं इस पुस्तक के (चित्र सं. 15) में वि.सं.1782 में प्रतिलिपित भक्तिरसबोधिनी पांडुलिपि का चित्र दृष्टव्य है, जिसे मीठाजी नामक किसी प्रतिलिपिकार ने वृंदावन में राजा अनूप सिंह की बेटी सुजान कुंवरि के पठनार्थ बनाया था।

---

46. मयाराम कृत 'मयाराम' ग्रंथ की पुष्पिका

प्रतिलिपिकार और पोथी परीक्षण

प्रतिलिपिकार—

प्रतिलिपिकार वह है जो लेखक की मूल प्रति अथवा उसकी प्रतिलिपि से किसी पुस्तक की हस्तलिखित प्रति तैयार करता है। भारत में पुस्तक-लेखन कार्य प्राचीन काल से होता आ रहा है। अत: मुद्रण तकनीकी से पूर्व पोथियों के प्रचार-प्रसार के लिए यहाँ प्रतिलिपि कार्य भी सतत चलते रहे। यही नहीं, पुराणों, जैन ग्रंथ, बौद्ध धर्म की महायान शाखा के ग्रंथों आदि में पुस्तकों के प्रतिलिपि-कार्य एवं पांडुलिपियों के निर्माण को धार्मिक कार्य मानकर बहुत महत्त्व दिया गया है। भक्ति आंदोलन के दौरान 16वीं सदी में श्रद्धा के धरातल पर यह कार्य प्रचुरता से हुये। उस युग में निम्बार्क, वल्लभ, गौड़ीय, हरिदासी एवं ललित तथा चरणदासी आदि सम्प्रदायों में विपुलता से पोथियां सृजित एवं प्रतिलिपित होती रहीं। परिमाण की दृष्टि से भक्ति साहित्य के सृजन में राधाबल्लभ संप्रदाय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। संप्रदाय के साधक सेवकजी ने यहां साहित्य को वाणी जी कहकर संबोधित करते हुए कहा- जहां वाणी है वहीं स्यामा-स्याम का निवास है। ऐसी प्रेरणाओं से प्रतिलिपिकरण के कार्य को और गति मिली-

नाम वाणी निकट , स्यामा-स्याम प्रकट।
नाम वाणी जहाँ, स्यामा-स्याम तहाँ॥

कालांतर में यहां ग्रंथों के प्रति श्रद्धा का यह भाव तीव्रता से प्रस्फुटित हुआ। 19वीं सदी में इस संप्रदाय से संबद्ध रानी कमलकुंवरि ने ग्रंथ लेखन एवं प्रतिलिपिकरण से जुड़े इस कर्म को अपनी भजन साधना मानते हुये स्व काव्य में रेखांकित किया है-

छाया ग्रंथनि की लिखि, भजन करौ निसि भोर।
अपनौ चित समझाइवौ, प्रभु जस मोह न छोर॥

श्रद्धा के इस धरातल से परे यह आजीविका का भी एक साधन था। कुछ विद्याव्यसनी लोग निजी अध्ययन के लिए अभीष्ट ग्रंथ की प्रतिलिपि कर लिया करते थे। कभी-कभी शिष्य भी अध्ययनार्थ अपने गुरु-प्रणीत ग्रंथ की प्रतिलिपि कर लिया करता था। राजे-महाराजे भी अपने निजी पुस्तकालयों के लिए कुछ लोगों की नियुक्त कर पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ कराते थे।

प्रतिलिपिकार की कठिनाइयाँ—

प्रतिलिपि करने का कार्य सरल नहीं है। इसमें गहन श्रम, असीम धैर्य एवं पूर्ण सावधानी की अपेक्षा होती है। लिखने में प्रतिलिपिकार की कटि, पीठ और ग्रीवा दुख जाती है, आँखे थक जाती हैं। प्रतिलिपिकार ने अपने इन कष्टों का वर्णन स्वयं किया है-

भग्नपृष्ठकटिग्रीवः स्तब्धदृष्टिरधोमुखम्।
कष्टेन लिखितं ग्रंन्थ यत्नेन प्रतिपालयेत्॥[48] (चित्र-9)

अर्थात् मेरी पीठ, कटि और ग्रीवा टूट गयी हैं, नीचे देखते-देखते मेरी दृष्टि स्तब्ध है। अतः कष्ट से लिखित यह ग्रंथ यत्नपूर्वक रखा जाय। प्रतिलिपिकार जानता था कि इतने कष्टों के बावजूद उसका कार्य सम्पूर्ण निर्दोष नहीं हो सकता। यह कार्य ही ऐसा है कि इसमें कुछ अशुद्धियाँ रह गयी होंगी। अत : वह निम्रतापूर्वक निवेदित करता था-

अदृश्यभावान्मतिविभ्रमाद्वा पदार्थहीनं लिखितं मयात्र।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं कोपं न कुर्यः खलु लेखकेषु॥[49]

अर्थात् दृष्टिभ्रम अथवा मतिभ्रम के कारण यदि मैंने अशुद्ध लिख दिया है तो श्रेष्ठजन शुद्ध कर लें, लेखक पर क्रोध न करें। यही नहीं वह अशुद्ध होने की स्वाभाविकता की घोषणा करता हुआ अपने को निर्दोष प्रमाणित करता था-

मुनेरपि मतिभ्रंशो भीमस्यापि पराजयः।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मह्यं दोषो न दीयतां॥[50]

अर्थात् मुनि को भी मतिभ्रम हो सकता है और भीम की भी पराजय हो सकती है। अत : शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, मुझे दोष नहीं दिया जाना चाहिए।

मुद्रण तकनीकी से पूर्व वास्तव में लेखक का जीवन कठिन था। लेखन का कार्य करते-करते जहाँ वह नाना प्रकार के रोगों से ग्रसित होता था, वहीं इस कार्य में निरंतर लगे रहने से वह न केवल समाज बल्कि अपने परिवार के लोगों से भी दूर हो जाता था। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में वृन्दावन निवासी सुकवि गोपाल राय ने इस संदर्भ में अभिव्यक्ति दी है— (चित्र-10)

---

48. श्रीमद्भगवद्गीता की पोथी- वृन्दावन शोध संस्थान क्र.2486
49-50. ऋग्वेद भाग-1, द्वितीय संस्करण- मैक्समूलर, भूमिका, पृ.सं.13

लेखक के सुख तुम सुने, दुक्ख सुने नही कान।
नैंन बैंन-कटि-ग्रीव-कर, पुरसारथ की हानि॥

नारि रहि जाति नहिं वात कहि जाति बहु,
देह दहि जात जोर, घटे करगाई कौ।
भोजन पचै नां पास आदिमी रूचै नां,
कछु नफा हू बचै ना अैसी करत कमाइ कौं॥
नैंन जल भरें औ नितंब दूखि परैं,
जब दिन भरि अरैं, तब पावै कछु याई कौ।
काम परयौ जोई सोई जानतु है यायी यह,
कहत गुपाल कांम कठिन लिखाई कौ॥

प्रतिलिपिकारों के प्रकार—

इस प्रकार प्रतिलिपिकार प्रायः तीन प्रकार के होते थे। एक प्रकार का प्रतिलिपिकार तो वह था जो ग्रंथकार अथवा राजाओं के लिए प्रतिलिपि किया करता था। ग्रंथ लेखक या रचनाकार भी सुंदर लिखावट वाले प्रतिलिपिकार से अपनी रचना की प्रतिलिपि तैयार कराते थे। दूसरे प्रकार के प्रतिलिपिकार प्रथम की अपेक्षा कम योग्य होते थे और इनमें निष्ठा की कमी भी स्वभावतः ही रहती रही होगी। तीसरे प्रकार के प्रतिलिपिकार वे थे जो अपने स्वाध्याय आदि के लिए प्रतिलिपि किया करते थे। अभिप्राय यह है कि भारत में प्रतिलिपिकारों की समृद्ध परम्परा प्राचीन काल से ही दृष्टिगोचर होती है।

प्रतिलिपिकार की योग्यताएँ—

प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रतिलिपिकार की उच्च अर्हताओं का विस्तार से आख्यान हुआ है। मत्स्यपुराण में राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हुए निम्नांकित गुणों से युक्त लेखक नियुक्त करने की बात कही गयी है-

कार्यास्तथाविधास्तत्र द्विजमुख्याः सभासदः।
सर्वदेशाक्षाराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः॥
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै।
शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् समश्रेणिगतान् समान्॥

आन्तरावै लिखेद्यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः।
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः॥
बह्वर्यवक्ता चाल्पेन लेखकः स्यान्नृप्रोत्तम।
पुरुषान्तरतत्त्वज्ञाः प्रांज्ञवश्चाण्यलोलुपाः॥

अर्थात् राजा की सभा में ऐसे सदस्य होने चाहिए जो सभासद द्विजों में मुख्य हों। समस्त देशों के अक्षरों के अच्छे जानकार हों तथा सभी शास्त्रों में निपुण हों, उन्हें सभी विभागों में लेखक का काम सौंपना चाहिए। शिरारेखा से युक्त, सभी प्रकार से पूर्ण, समानांतर तथा सीधी रेखा में लिखे गये, आकृति में बराबर अक्षरों को जो लिखता है, वही अच्छा लेखक कहा जाता है। हे नृपोत्तम! जो बहुत थोड़े में बहुत बड़ा अर्थ का कहने वाला हो, उपाय वाक्यों में कुशल हो और सभी शास्त्रों का पंडित हो, ऐसा लेखक ही उत्तम होता है।

स्पष्ट है कि यहाँ जिस लेखक के गुणों का उल्लेख किया गया है वह मात्र प्रतिलिपिकार नहीं हैं फिर भी, इस कथन से प्रतिलिपिकार की विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार प्रतिलिपिकार को सभी पंक्ति और समान आकार के अक्षर लिखने वाला होना चाहिए।

काव्यशास्त्रीय आचायो ं का ध्यान इस ओर गया। राजशेखर की काव्यमीमांसा में स्पष्टतया प्रतिलिपिकार के गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है- **"सदः संस्कारविशुद्ध्यर्थं सर्वभाषा-कुशलः, शीघ्रवाक्, चार्वक्षरः इङ्गिताकार वेदी, नानालिपिज्ञः, कविः लाक्षणिकश्च लेखकःस्यात्।"**[51]

अर्थात् कवि की रचनाओं की प्रतिलिपि करने वाला लेखक (प्रतिलिपिकार) सभी भाषाओं में कुशल, शीघ्र बोलने वाला, सुन्दर लिखने वाला, आकार-प्रकार की लिपियों का ज्ञाता, स्वयं कवि तथा सुलक्षण होना चाहिए। यहाँ भी प्रतिलिपिकार के जो गुण बताये गये हैं वो समान्य प्रतिलिपिकार की अपेक्षाओं से बहुत अधिक हैं। प्रतिलिपिकार में मात्र वे ही गुण अपेक्षित हैं जिनसे उसके द्वारा की हुई प्रतिलिपि में विकृतियाँ न हों। इस दृष्टि से प्रतिलिपिकार के निम्नांकित गुणों की चर्चा की जा सकती है-

---

51. काव्यमीमांसा- राजशेखर, अनु.केदारनाथ शर्मा सारस्वत (पटना, 1954), पृ.123

प्रतिलिपिकार की सजगता—

प्रतिलिपिकार के लिए सर्वप्रधान गुण है ईमानदारी। ईमानदार प्रतिलिपिकार वह है जो आदर्श प्रति की अशुद्धियों और त्रुटियों को बिना किसी संशोधन के अपनी प्रति में उतार ले। अर्थात् उसे, 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' कहावत को चरितार्थ करना चाहिए, उसे आदर्श प्रति पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। प्रतिलिपिकार अपने इस गुण के प्रति पर सतर्क रहता था जिसके कारण अनेक हस्तलिखित प्रतियों में लिखा मिलता है-

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते॥

(ग्रंथ पुष्पिका-एक्से.2240, वृ.शो.सं.)

अर्थात् जैसा पुस्तक में, मैंने देखा, वैसा ही मैंने लिखा है। यह शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, इसका दोष मुझ पर नहीं है। वृन्दावन शोध संस्थान के ग्रंथागार में, एक्सेशन संख्या 785 पर संरक्षित तंत्रसार शीर्षक पोथी में प्रतिकार (लिखिया) ने कहा है कि मेरे द्वारा जतनपूर्वक लिखे गये ग्रंथ की जो व्यक्ति चोरी करेगा, उसके माता-पिता द्वारा प्रदत्त संस्कार वैसे ही हैं, जैसे शूकर एवं गधे के द्वारा अपनी संतति के लालन-पालन में उसे कोई संस्कार नहीं दिये जाते—

'जतने लिखितं ग्रन्थं यश्चोरयति मानवः शूकरी तस्य माता च पिता तस्य च गर्दभः। यथा दृष्टं तथा लिखितम् लेखको दोषो नास्ति। वोडेराम घनश्याम चुम्बामि मुखपंकजु यदि जीवामि सेकेन पुनः पश्यामि ते मुखम्॥'

वहीं क्रमांक 2132 पर संरक्षित शालिग्राम शिला परीक्षा पाण्डुलिपि के अन्तर्गत किन्हीं किशोरी मोहनदास वैरागी नामक प्रतिलिपिकार ने श्यामचरण बाबू के पढ़ने के लिए लिखी गई पोथी के अंतर्गत इस बात को लगभग इसी तरह प्रस्तुत किया है—

'इति श्री ब्रह्म पुराण शालिग्राम शिला परीक्षा समाप्ता। यत्नेन लिखितं ग्रन्थं यश्चोरयति मानवा, शूकरी तस्य माता च पिता तस्य च गर्दभः॥ लिपिरियं श्रीकिशोरी मोहनदास वैरागी शां दायिनान। पठनार्थे श्री श्याम चरण बाबू॥'

हलधरदास-कृत सुदामाचरित्र की उपलब्ध पोथी से प्रति तैयार करने में प्रतिलिपिकारों के द्वारा अपनी ईमानदारी की घोषणा निम्नांकित प्रकार से की गयी है-

... जो देखा सो लीखा मम दोष न दीअते पंडीत
जन सो वीनती मोरी टुटल आखर लेव सभ जोरी...।
शुद्ध अशुद्ध विचार नहीं ज्ञानहीन मति थोर।
देखेउं सो लीखेउं करी यामें दोष ना मोर:॥
पंडित जन ज्ञानी गुणी तासन विनती मोर।
अछर टुट मीलाइ के लेव अर्थ शभ जोर॥
इती श्री सुदामाचरीत्र संपुरन देखा सो लीखा॥

प्राचीन काल में ग्रंथ कर्त्ता अथवा लिपिकार दोनों ग्रंथ की सुरक्षा के प्रति बड़े जागरूक थे। पोथियों में प्राय: मिलने वाले यह उल्लेख इस ओर इंगित करते हैं-

राखे पुस्तक दूरि तेल, तोय पुनि अग्नि ते।
बालक बाला कर, इनके हस्त न दीजिये॥
पुस्तक कलम सुनारि, गई जहाँ पर रह गई।
आवै समौ विचारि, घिसी मलिन मर्दन करी॥
सकृत कहै सारथ सुनै, दिव्य पंक्ति पर लेख।
सो उत्तम लेखक अहै, शास्त्र निपुण शुचि भेख॥
अर्थ न जानै शब्द कौ, लिखै प्रमादी होय।
अछर सुंदरता नहीं, लेखक निंदित सोय॥

प्रतिलिपिकरण का कार्य एक जटिल साधना है जिसमें सावधानी अपेक्षित है। सावधानी के लिए एकाग्रचित्तता आवश्यक है। इसके लिए यह जरूरी है कि प्रतिलिपिकार एक बैठक में उतना ही कार्य करे जितने में उसका मन न ऊबे। भाषाओं का ज्ञान भी प्रतिलिपिकार के लिए उपयोगी है। कभी-कभी एक ही रचना में विभिन्न भाषाओं के शब्द आ जाते हैं। हिंदी-क्षेत्र में ही राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि अनेक भाषाओं अथवा विभाषाओं में ग्रंथ लिखे जाते थे। अत: प्रतिलिपिकरण में रत व्यक्ति के लिए कई भाषाओं का जानकार होना भी आवश्यक था।

प्रतिलिपिकार के लिए धैयवान होना भी जरूरी है। जिस लिखिया के पास धैर्य नहीं है, जो चंचल चित्त और उद्विग्न रहता है। ऐसा लिखिया प्रतिलिपि-कार्य के लिए सर्वथा अयोग्य माना गया है। ऐसे स्वभाव का प्रतिलिपिकार पाठ को

सहज ही विकृत कर सकता है। 18वीं सदी में राजस्थान की किशनगढ़ रियासत के राजा सावंत सिंह जब वृन्दावन आये तो वह यहाँ चंचलता से परे एकाग्र चित्त होकर लेखन का कार्य करने वाले लिखियाओं को देख काफी प्रभावित हुए। वि.सं.1819 में उनके द्वारा रचित 'वन जन प्रशंसा' शीर्षक ग्रंथ में लिखियाओं के इस स्वभाव को सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है—

धन-धन वृन्दावन के लिखिया।
जिन उत्तम लेखक व्रतधारी, सुन्दर अक्षरनि सिखिया॥
सहज सिमिट कैं रहैं नैन मन चंचलता छुटि जाय।
हरि गुन कथा लिखत ही तिनकौ सब दिन जात बिहाय॥
सिद्ध करन परमारथ-स्वारथ, बसि तुलसी बन माहीं।
नागरीदास भाग इनको कोउ, बरन सकत हैं नाहीं॥

वर्तमान में मुद्रण की सुविधा होने के कारण प्रतिलिपि करने-कराने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, प्राचीन काल में जो प्रतिलिपिकार होते थे, उनके लिए ये गुण अपेक्षित थे। वास्तव में मुद्रण तकनीकी से पूर्व उस जमाने में इन लिखिया या सुलेखकों ने जिस तरह हमारी ज्ञान निधि को यत्नपूर्वक सिंचित किया, वह भाव ग्रंथों के प्रति श्रद्धा-समर्पण से जुड़े भारतीय संस्कारों का प्रतिनिधित्व करने वाला है।

पोथी परीक्षण—

एक ही रचना की कई प्रतियां मिलने पर उसकी प्राचीन एवं प्रामाणिक पोथी के विषय में समझना भी जरूरी है। रचना की उपलब्ध प्रतियों की प्राय: दो प्रकार से परीक्षा की जा सकती है जिसे बहिरंग परीक्षा और अंतरंग परीक्षा कहा जाता है। इस प्रविधि के विषय में निम्नानुसार समझ सकते हैं—

बहिरंग परीक्षण—

पांडुलिपियों के जगत में कार्य करने वाले अध्येताओं के लिये जरूरी है कि वे इनके अध्ययन में आने वाली परेशानियों से अवगत हों। जिसके लिये आपके हाथ में विद्यमान पोथी के संदर्भ में निम्न प्रकार जानकारी जुटाना

आवश्यक है। डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त के अनुसार "किसी भी पोथी की सामग्री के सम्बंध में यह देखना जरूरी है कि उसके लिपिकाल, लिपिकार, लिपि प्रयोजन आदि के सम्बंध में उसमें जो कुछ कहा या लिखा हुआ है, वह कहाँ तक विश्वसनीय है? यह प्रति की बहिरंग परीक्षा हैं।" [52] निष्कर्ष यह है कि बहिरंग परीक्षा के दो उद्देश्य होते हैं- प्रथम तो यह देखना कि कोई प्रति कहाँ तक प्रतिलिपिकार द्वारा प्रस्तुत है अर्थात् उसमें प्रतिलिपिकार के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति ने तो कहीं कोई हस्तक्षेप तो नहीं किया है? और द्वितीय, प्रतिलिपिकार द्वारा प्रस्तुत पाठ कहाँ तक प्रामाणिक है अर्थात् प्रतिलिपिकार ने भी तो कहीं कोई भ्रम नहीं फैलाया।

बहिरंग परीक्षा में निम्नांकित चार बातों को परख लेना चाहिये-

(1) प्रति के आकार-प्रकार, कागज, स्याही आदि के आधार पर उसमें दी हुई तिथि की प्रमाणिकता भी जरूरी है।

(2) प्रतिलिपिकार द्वारा प्रस्तुत पाठ कहाँ तक सुरक्षित हैं अर्थात् उसमें अन्य व्यक्ति के द्वारा परिवर्तन-परिवर्धन तो नहीं हुआ है?

(3) अगर प्राप्त प्रति में संशोधन हैं तो उनमें से कितने मूल लेखक के हैं, कितने प्रतिलिपिकार के और कितने अन्य व्यक्तियों के हैं?

(4) प्रति में पाठ-वृद्धि है अथवा नहीं।

इसी के साथ पोथी का अंतरंग परीक्षण उसके विषय से जुड़े अन्तः पक्ष की छानबीन पर केन्द्रित होता है।

वंश वृक्ष –

पोथी की प्रामाणिकता को परखने का एक तरीका वंश वृक्ष भी है। वंश वृक्ष से तात्पर्य एक रचना की कई प्रतियां प्राप्त करते हुए, प्राचीन अर्थात् शुद्ध प्रति की ओर बढ़ना है। उदाहरणार्थ अगर किसी व्यक्ति ने 250 साल पहले किसी पोथी की प्रतिलिपि करायी और वह उसे प्रतिलिपि स्थल से अपने गंतव्य की ओर कहीं दूर ले गया। आवश्यकता पड़ने पर वहीं उस ग्रंथ की पुनः-पुनः प्रतियां हुई जिसमें कहीं-कहीं प्रतिलिपिकारों ने संशोधन भी कर दिये। ऐसे में संशोधित प्रति

52. अनुसंधान की प्रक्रिया- डॉ॰ विजयेंद्र स्नातक और डॉ॰ सावित्री सिन्हा, पृ॰ १२३

निश्चित ही शुरू में करायी गयी, प्रथम प्रतिलिपि से भिन्न होंगी। वंश वृक्ष के माध्यम से इसी प्रकार की अनेक दुविधाओं को सुलझाने का प्रयास किया जाता है। पाठानुसंधान के क्षेत्र में वंश वृक्ष का अपना महत्व है।

अशुद्ध पाठ को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ

भूल एवं प्रमादवश पाण्डुलिपियों के पाठ अशुद्ध भी हुए हैं। ऐसे में अध्येताओं के लिये इसकी छानबीन के साथ ही इस प्रकार की अशुद्धता होने के कारण भी समझे जाने जरूरी हैं। धार्मिक साहित्य का पाठ तो प्राय: अविकृत रहा है किंतु अन्य सुलभ साहित्य के पाठ में पर्याप्त विकृतियाँ हुई हैं। इसका सर्वप्रधान कारण यह है कि गुरु अपने शिष्य के ग्रंथ में और शिष्य अपने गुरु के ग्रंथ में बेहिचक संशोधन-परिवर्तन कर देता था। साथ ही श्रद्धा के धरातल पर पोथी के सतत चिंतन-मंथन से यहां एक ओर तो पाठ की प्रामाणिकता बनी रही, वहीं किसी कारणवश पोथी विशेष में जब कभी, मध्य में किसी संग्रहकर्ता ने स्व-संग्रह की पोथी में परिवर्तन-परिवर्द्धन कर लिया और कालांतर में इसके आधार पर प्रतिलिपियां होने लगीं तो ऐसे में पाठ की प्रामाणिकता से बचना मुश्किल हो जाता है। पोथी में एक अन्य विकार तब आता है जब प्रतिलिपिकार आदर्श प्रति से थोड़ा अंश पढ़ लेता है और उसे स्मृति में धारण कर अपनी प्रति में उतारता है। तत्पश्चात् फिर आदर्श प्रति के कुछ अंश को देखकर वह अपनी प्रति में लिखता जाता है। इसी प्रक्रिया में मूल पाठ में विकार आ जाना स्वाभाविक है।

शिलालेख, ताम्रपत्र आदि, जिनकी अनेक प्रतियाँ नहीं बनती थीं, पर इनमें भी भूलें विद्यमान हैं। इसका कारण यह है कि शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि के प्रारूप को पहले भोजपत्र अथवा ताड़पत्र पर लिखा जाता रहा होगा और उसको देखकर लिपिकार शिलाखंड,ताम्रखंड आदि पर उस सामग्री को उत्कीर्ण करता रहा होगा। यह कार्य भी प्रतिलिपि-कार्य के समान ही है। ऐसे कार्यों में प्रतिकार जानबूझकर तो परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं करता रहा होगा किंतु मानवीय भूलवश ऐसे उदाहरण भी यदा-कदा मिल जाते है।

प्राचीन ग्रंथों में पाठ-विकृतियों के लिए प्रतिलिपिकार ही एकमात्र उत्तरदायी नहीं होता। लगातार उपयोग अथवा सील के कारण पाण्डुलिपि

कभी-कभी अपठनीय हो जाती थी। कभी इसका कुछ अंश फट जाता था तो कभी कोई पूरा पन्ना जीर्ण होकर हट जाता था। कभी-कभी पत्रक के ऊपरी और निचले हिस्से की पंक्तियाँ भी प्रायः लुप्त हो जाती थी। संग्रहकर्ता या लिखिया स्व-विवेक से इस समस्या की पूर्ति कर लेते थे। इन बाह्य कारणों से भी प्रतिलिपियों में भूलों का समावेश हुआ है। इस प्रकार की विकृतियों के निम्नांकित कारण गिनाये जा सकते हैं :-

प्राचीन ग्रंथों में पाठ-विकृतियों का मूल कारण यह है कि उस समय मुद्रण यंत्र नहीं थे। एक पुस्तक का प्रकाशन प्रायः हाथ से तैयार एक नव प्रति ही होती थी। ऐसे में आवश्यकता अथवा मांग के अनुसार अनेक कारणों से रचनाओं की पुनः-पुनः हाथ से अनेक प्रतिलिपियाँ करनी अथवा करानी ही पड़ती थीं। सुलभता के आधार पर अशुद्ध अथवा शुद्ध पोथी का चलन यहाँ समान रूप से चलता रहा। पोथियों के विस्तार को बताने वाले प्रमुख कारण निम्नानुसार समझे जा सकते हैं-

(1) सुरक्षा की दृष्टि से स्वयं रचनाकार अपनी रचनाओं की कई प्रतिलिपियाँ तैयार करवाकर रख लेता था। ऐसे में अगर लिखिया के हाथ में मूल रचना से पृथक किसी विकृत पाठ की पोथी है तो इससे अशुद्ध पाठ की एक शृंखला का आरंभ होना स्वाभाविक है।

(2) ग्रंथालयों में जब कोई ग्रंथ नष्ट लगता रहा होगा तो उसकी भी एक अथवा अधिक प्रतिलिपियाँ करवायी जातीं थीं।

(3) महत्वपूर्ण तथा लोकप्रिय ग्रंथों की सहृदय पाठकों द्वारा स्वाध्याय के लिए भी प्रतिलिपियाँ तैयार होती थीं।

(4) जिन लेखकों की लिखावट अच्छी नहीं रहती होगी वे सुन्दर लिखने वाले प्रतिलिपिकारों से पुनः अपना ग्रंथ लिखवाते थे। ऐसे में सुन्दर लेखन वाले लिखिया को पाठ शुद्धि का ध्यान रखना भी जरूरी है।

(5) राजे-महाराजे अपने पुस्तकालयों के लिए ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करवाते थे।

(6) शिष्य अपने गुरु के ग्रंथ की अध्ययन की सुविधा के लिए प्रतिलिपि करा लिया करते थे।

इस शृंखला में उन धार्मिक मान्यताओं का भी प्रतिलिपिकरण को बढ़ावा देने में मूल्यवान योगदान है जो पुस्तक-दान के महत्व को बताते हैं।

दद्याद्यो पुस्तकं भवत्या स गच्छेद्धरिमन्दिरम्।
कुर्वन्ति विधिनाऽनेन सम्पूर्ण पुस्तकं च ये॥
तेषां नामानि लिम्पेत चित्रगुप्तोऽर्चनाद् द्विज॥[53]

53. पद्मपुराण, द्वितीय खंड, संपादक-श्रीराम आचार्य, (बरेली, 1969) पृ.142

अर्थात् जो पुरुष पुराण की पुस्तक का दान किया करते हैं वे श्रीहरि के निवास में जाते हैं और ऐसे व्यक्तियों का नाम चित्रगुप्त अर्चना करके लिखते हैं। इसी प्रकार गरुड़ पुराण में भी कहा गया है-

वेदार्थयज्ञशास्त्राणि धर्मशास्त्राणि चैव हि।
मूल्येन लेखयित्वा यो दद्याद्याति स वैदिकम्॥
इतिहासपुराणानि लिखित्वा यः प्रयच्छति।
ब्रह्मदानसमं पुण्यं प्राप्नोति द्विगुणीकृतम्॥[54]

अर्थात् वेदार्थ, यज्ञ शास्त्र और धर्मशास्त्र, इनको मूल्य देकर लिखवाकर जो किसी वैदिक ब्राह्मण को दान करता है एवं इतिहास-पुराण को लिखकर देता है, वह ब्रह्म दान के समान दुगुना पुण्य प्राप्त करता है। मत्स्य पुराण में विभिन्न पुराणों के हाथ से लिखकर दान में दिये जाने का फल वर्णित है-

ब्राह्मन्त्रिदशसाहस्त्रं पुराणं परिकीर्त्यते।
लिखित्वा तच्च योदद्याज्जलधेनुसमन्वितम्॥
वैशाखपूर्णिमायाञ्च ब्रह्मलोके महीयते॥[55]

अर्थात् जो कोई ब्राह्म पुराण को हाथ से लिखकर जलधेनु से संयुक्त करके वैशाख मास को पूर्णिमा तिथि में दान करता है, वह ब्रह्मलोक में जाकर प्रतिष्ठित होता है। जो भी हो, इस पुण्य के उद्देश्य से भी लोग ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करते थे।

उपर्युक्त कारणों से प्राचीन काल में ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ होती थीं और प्रत्येक प्रतिलिपि में अज्ञात एवं ज्ञात रूप में पाठ में परिर्वतन-परिवर्द्धन होता था। इस प्रकार जिस ग्रंथ की जितनी ही अधिक प्रतिलिपियाँ होती थीं उसके मूल पाठ में उतना ही विकार आ जाता था। इन पाठ-विकृतियों के निम्नांकित कारण गिनाये जा सकते हैं, जिनके माध्यम से अशुद्ध पाठों की परंपरा भी सतत चलती रही—

(1) ग्रंथकार के जीवित रहने पर उससे प्रतिलिपि को दिखाकर शुद्ध करा लेने की प्रथा और न इसकी सुविधा ही थी। प्राचीन काल में आवागमन

54. गरुणपुराण, द्वितीय खंड, संपादक- श्रीराम शर्मा आचार्य, (बरेली 1968), पृ.128
55. मत्स्यपुराण, प्रथम खंड, संपादक-श्रीराम शर्मा आचार्य, (बरेली 197), पृ. 237.38

सरल नहीं था और न इसकी सुविधा। इस अभाव के कारण भी पाठ-विकृतियाँ हुई हैं।

(2) मानवी दुर्बलतावश जितनी भूलें होती थीं उनसे कहीं अधिक भूलें जानबूझकर की जाती थीं। ये भूलें आज भी हमारे लिए भूलें हैं क्योंकि वे लेखक कृत नहीं है। वास्तव में उन प्रतिलिपियों के लिखने वाले सुलेखकों ने अपनी दृष्टि से मूल पाठ को शुद्ध करते हुए भी समस्याओं का जन्म दिया है।

(3) ऐसा भी होता रहा होगा कि आदर्श प्रति (Exemplar) को देखकर कोई व्यक्ति बोलता रहा होगा और प्रतिलिपिकार सुनकर लिखता रहा होगा। लिखने में कम समय लगने के लिए ऐसा किया जाता रहा होगा। आजकल भी ऐसा किया जाता है, प्रतिलिपि करने वाला बीच-बीच में लिखना छोड़कर और लिखी जाने वाली प्रति पर से सिर उठाकर आदर्श प्रति से लिखता है तो इस प्रकार के अनेक कारणों से समय की बचत के लिए प्रतिलिपिकार सुनकर लिखता रहा होगा। इस प्रक्रिया से प्रतिलिपिकार के द्वारा पाठ-विकृतियाँ किये जाने की संभावनायें बढ़ जाती हैं।

(4) प्रतिलिपिकार कभी-कभी सम्पादक के समान व्यवहार करता था। आदर्श प्रति (Exemplar) के अतिरिक्त उसे जब कोई प्रति मिलती थी तो वह उससे अपनी प्रति का मिलान करता था और अपनी प्रति में जो वह कमी पाता था उसको उस प्रति के सहारे पूरा कर लेता था। इस कारण भी पाठ-भ्रष्टता होती थी।

(5) कभी-कभी प्रतिलिपिकार जान भी जाता था कि उससे अशुद्धियाँ हो गयी हैं तब भी उन्हें वह सुधारता नहीं था। इसके प्रायः दो कारण रहे है- एक तो आलस्य और दूसरे संशोधन से होने वाली गंदगी से बचना। यदा-कदा वह ऐसा सोचकर भी अशुद्धि को छोड़ देता रहा होगा कि इससे अर्थ में तो भिन्नता आ नहीं रही है। इसका प्रमाण यह है कि बहुत-सारे पाठांतर मात्र पर्याय के ही अंतर होते हैं।

(6) पाठक की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह ग्रंथ को पढ़ते समय अपनी सुविधा के लिए उस पर शब्दार्थ आदि लिख लेता है। ऐसी प्रति

को आदर्श बनाकर की जाने वाली प्रतिलिपि में पाठक द्वारा लिखे गये अंश भी उतार लिये जाते थे और इस प्रकार पाठ विकृत हो जाता था।

(7) ग्रंथकर्त्ता भी स्वहस्तलेख में संशोधन किया करता था। जब कोई रचनाकार अपनी कृति में संशोधन कर देता था तो उस कृति की प्रतिलिपियों की पाठ की दृष्टि से दो शाखाएँ हो जाती थीं। एक में संशोधन के पहले का पाठ रहता था और दूसरी में संशोधन के बाद का रहता था। यदि किसी प्रतिलिपिकार को दोनों शाखाओं की एक-एक प्रति मिली और उसने दोनों को मिलाकर अपना पाठ तैयार किया तो मिश्र पाठ की प्रति की एक पृथक् शाखा बन गयी। इस प्रकार स्वयं ग्रंथकार द्वारा संशोधन कर दिये जाने के कारण भी प्रतिलिपियों में पाठांतर उत्पन्न हो जाते थे।

(8) जो भूलें प्रतिलिपिकार से हो सकती हैं उनसे रचनाकार भी परे नहीं है। रचनाकार भी मनुष्य ही होता है और वह अपनी रचना का प्रतिलिपिकार भी होता है। अतः प्राकृतिक रूप से प्रतिलिपिकार के द्वारा होने वाली सारी भूलें रचयिता से भी होना सहज सम्भव हैं। इस प्रकार कुछ पाठ-विकृतियाँ ऐसी हो सकती हैं जो स्व-हस्तलेख से ही आ सकती हैं।

छायाचित्र

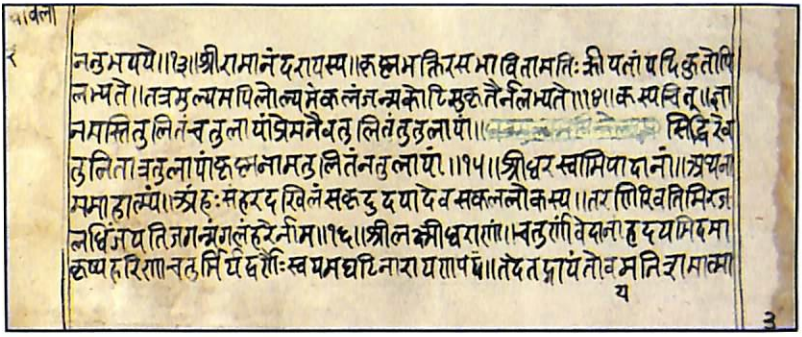

चित्र सं॰ 1

मुद्रण तकनीकी से पूर्व भूलवश अक्षर लिखे जाने पर संशोधन हेतु हरताल लगाकर पाठ शुद्ध करने की प्रक्रिया चलन में थी जिसमें संशोधन करने वाले अक्षरों पर पीले रंग का पोता लगाते हुए उसके सूखने पर शुद्ध पाठ लिख दिया जाता था। वर्तमान में व्हाइटनर की पूर्व पीठिका के रूप में इसे समझा जा सकता है।

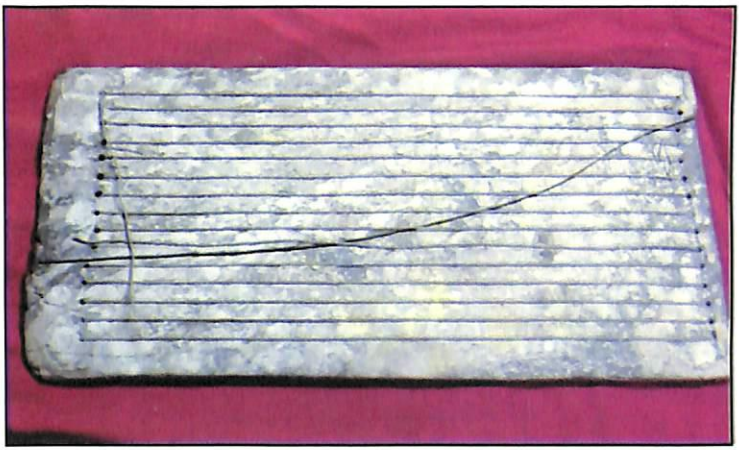

चित्र सं॰ 2

मुद्रण तकनीकी से पूर्व पोथी तैयार करने में रेखापाटी का उपयोग होता था। लकड़ी की पट्टिका पर समानान्तर दूरी से डोरियाँ व्यवस्थित कर रेखापाटी तैयार की जाती थी। इस पर लिप्यासन या कागज रखकर दबाने से समानान्तर रेखाओं के चिह्न उभर आते हैं तथा इन पंक्तियों के सहारे लेखन किया जाता था। यह स्थानीय परम्परा में प्रक्रिया डोरा डालना कहलाती थीं।

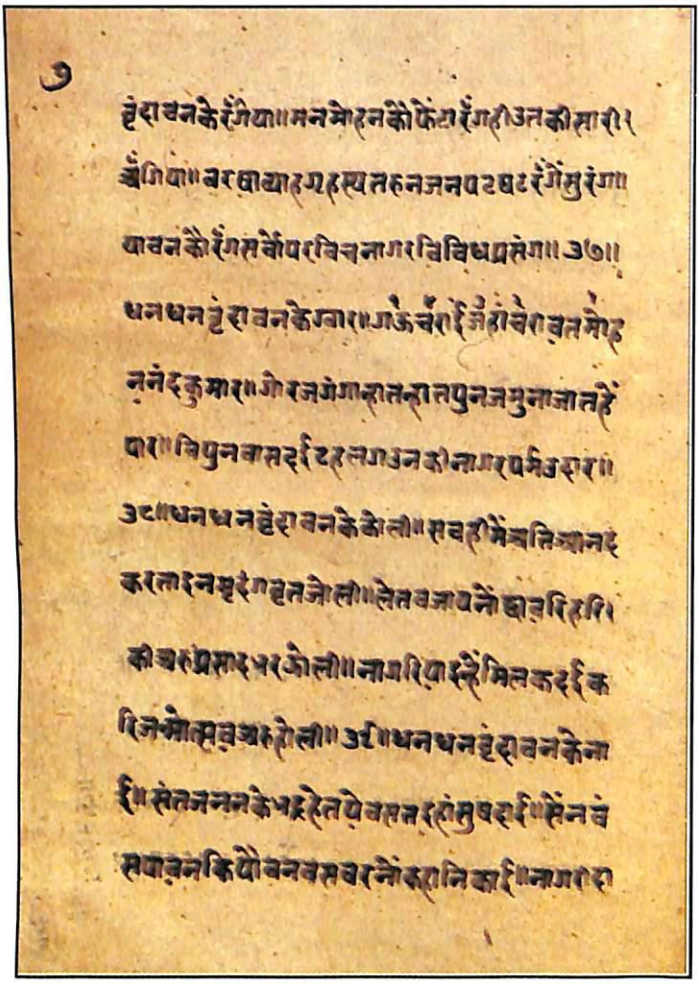

चित्र सं॰ 3

प्रतिलिपिकार (लिखियाओं) द्वारा प्रति तैयार करते समय हुई भूल अथवा पोथी के पूर्ण होने पर किसी अन्य पोथी से इसका मिलान करने पर ज्ञात भूल के संशोधन को दर्शाता पत्रक, जिसमें प्रतिलिपिकार द्वारा हरताल का प्रयोग न करके शब्दों के ऊपर अंक लिखते हुए संशोधन की प्रक्रिया अपनाई गई है ताकि पाठक सही क्रम को समझ सकें। [नागरीदास (सावंत सिंह) कृत वन जन प्रशंसा], मदनमोहन जी (भट्टजी) का मंदिर, पुराना शहर, वृन्दावन

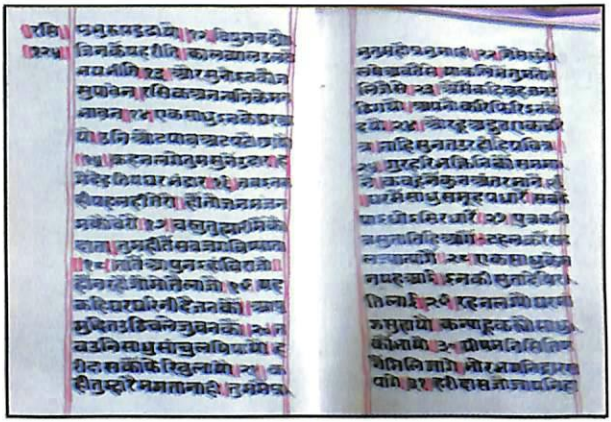

चित्र सं॰ 4

ग्रंथ-शीर्षक को संक्षिप्त रूप में दर्शाता पत्रक जिसमें भगवतमुदित जी कृत रसिक अनन्यमाल पोथी को संक्षिप्त रूप में ॥रसि॥ अंकित किया गया है। इस चित्र के माध्यम से पोथी की पृष्ठांकन प्रणाली भी दृष्टव्य है जिसमें पत्रक पर एक ओर ही पत्रक संख्या अंकित की जाती है।

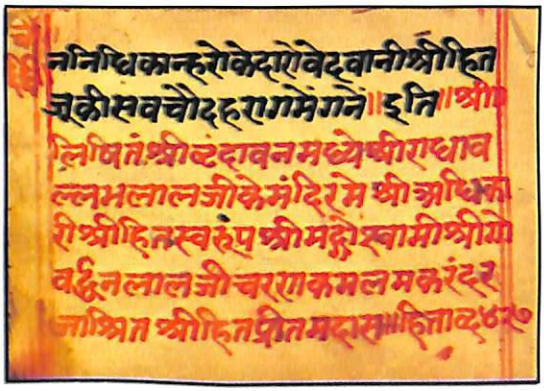

चित्र सं॰ 5

ग्रंथ पुष्पिकाओं में कालगणना महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कालक्रम को अभिव्यक्त करने में प्रायः विक्रम संवत्, शक संवत्, हिजरी एवं बंगला संवत् आदि का प्रयोग होता रहा है। जबकि धार्मिक सम्प्रदायों में निम्बार्काब्ध, रामानुजाब्ध एवं हिताब्ध आदि भी कालगणना हेतु प्रयुक्त देखे जा सकते हैं। ऐसे में कालगणना करते हुए कालक्रम फलित करने में सावधानी अपेक्षित है। हिताब्ध के द्वारा कालक्रम को अभिव्यक्त करती राधाबल्लभ सम्प्रदाय की पोथी।

पदावली संग्रह- हिताब्ध अंकित पोथी, मदनमोहन मंदिर अठखम्भा, वृन्दावन

काकपद

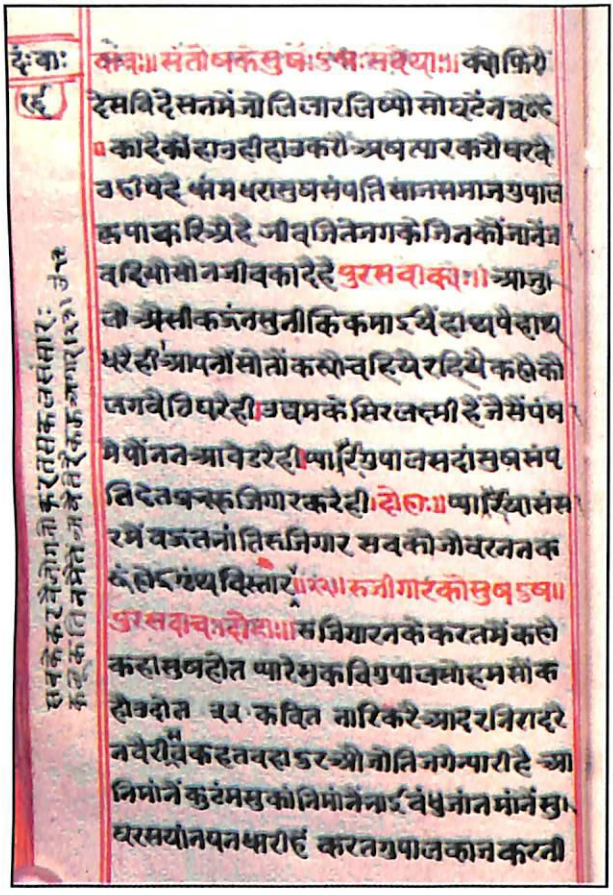

चित्र सं॰ 6

दम्पति वाक्य विलास शीर्षक पोथी को 'दं: वा:' संक्षिप्त नाम से संबोधित करने के साथ ही हांसिये पर उल्लिखित विवरण को दर्शाता पत्रक। इस विवरण हेतु पत्रक में काक पद को चिह्नित करते हुए हाँसिये पर शेष भाग अंकित किया गया है। वहीं शब्दों को पृथक दिखाने के लिए ऊपर से आठवीं पंक्ति में शिरो-रेखा का प्रयोग भी दर्शित है। यह पोथी राजस्थान प्राच्य प्रतिष्ठान, जोधपुर में एक्सेशन सं. 18829 पर संरक्षित है। इसकी डिजिटल प्रति ब्रज संस्कृति शोध संस्थान, वृन्दावन में भी सुलभ है।

सजगता—

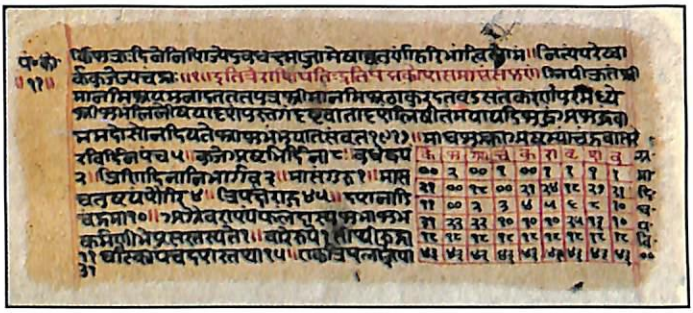

चित्र सं॰ 7

ग्रंथ की प्रति तैयार किये जाने में सावधानी का उल्लेख— वृन्दावन शोध संस्थान के ग्रंथागार में क्र॰ 2240 पर विद्यमान ब्रजभाषा ग्रन्थ, तजिका पद्म कोश की पुष्पिका के अन्तर्गत प्रतिलिपिकार ने पोथी को देखकर यथावत दूसरी प्रति तैयार करने का उल्लेख इस छन्द के माध्यम से किया है। प्रतिलिपिकार बताता है कि मैंने जैसा पुस्तक में देखा है, उसी प्रकार दूसरी पोथी को लिखा है। यदि कहीं शुद्धि-अशुद्धि हो तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं।

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दियते॥

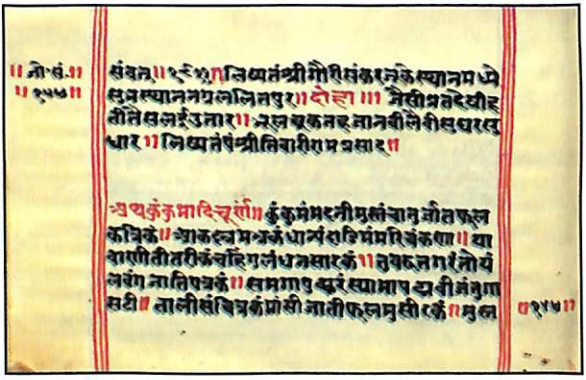

चित्र सं॰ 8

जैसी प्रति देखी हती, तैसी लई उतार।
भूल चुक तहं जानवौ, लेओ सुधर सुधार॥

यह पत्रक वृन्दावन शोध संस्थान के ग्रन्थागार में क्रमांक 3141 पर संरक्षित है।

संरक्षण का संस्कार—

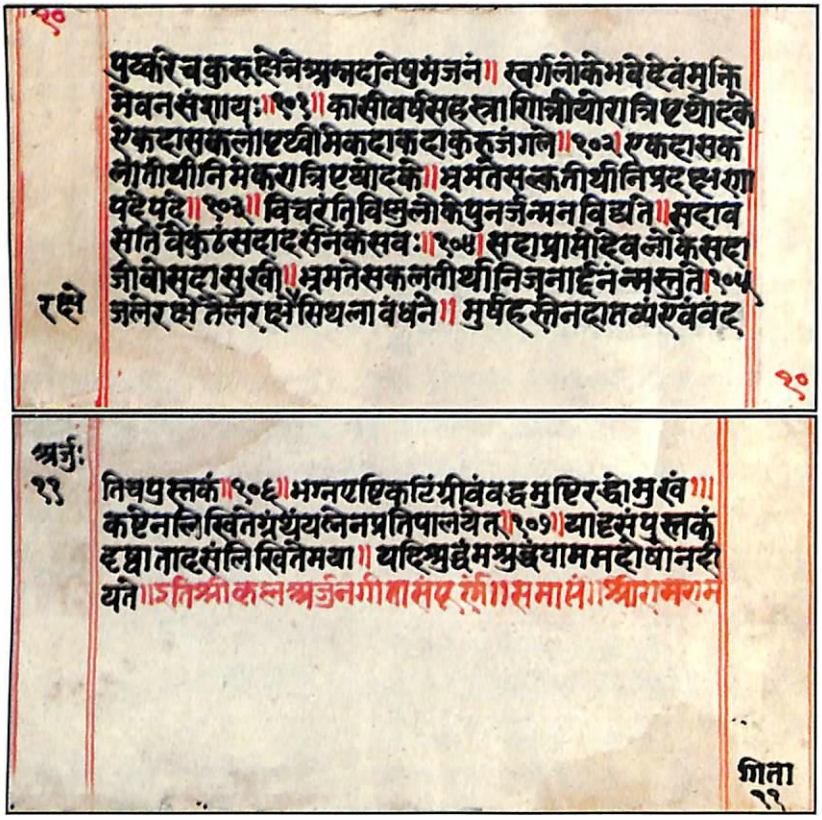

चित्र सं॰ 9

वृन्दावन शोध संस्थान में क्र॰ 2486 पर संरक्षित श्रीमद्भगवद्गीता की पोथी जिसमें प्रतिलिपिकार ने लिखा है कि उसने कमर, गर्दन एवं आँखों की पीड़ा सहते हुए श्रमपूर्वक इस पोथी को पूर्ण किया है। अतः इस ग्रंथ की रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये। इतना ही नहीं प्रतिकार ने पोथी के प्रति भी सजगता का निर्देश करते हुए आगे लिखा है—

जले रक्षे तैलं रक्षे, रक्षे सिथला वंधने। मुर्खहस्ते न दातव्यं एवं वदति च पुस्तकं॥

भग्न दृष्टि कटिं ग्रीवं वद्ध पृष्टि रद्धो मुखं। कष्टेन लिखिते ग्रंथं यत्नेन प्रति पालयेत्॥

प्रतिलिपिकार पाठ के प्रति सजग ही नहीं बल्कि स्वयं के द्वारा तैयार की गई पोथी के संदर्भ में भी कहता है—

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते॥

पाण्डुलिपि लेखन के कष्ट—

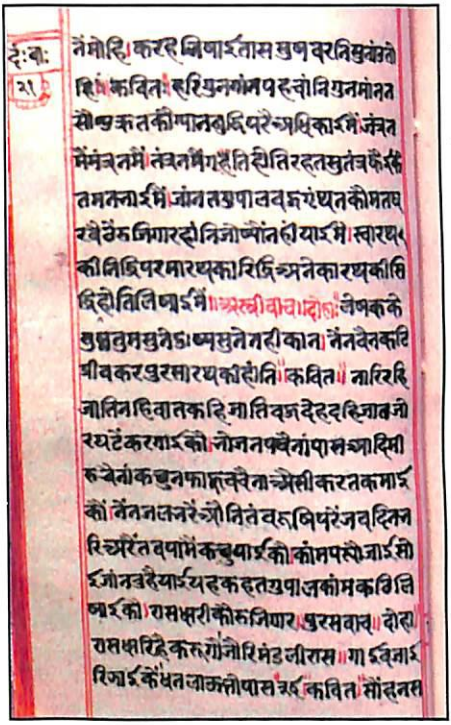

लेखक के सुख तुम सुने,
दुक्ख सुने नही कान।
नैंन बैंन-कटि-ग्रीव-कर,
पुरसारथ की हानि॥
नारि रहि जाति नहिं वात कहि जाति बहु,
देह दहि जात जोर, घटे करगाई कौ।
भोजन पचै नां पास आदिमी रूचै नां,
कछु नफा हू बचै ना अैसी करत कमाइ कौं॥
नैंन जल भरें औ नितंब दूखि परैं जब,
दिन भरि अरैं, तब पामें कछु याई कौ।
काम परयौ जोई, सोई जानतु है यायी यह,
कहत गुपाल कांम कठिन लिखाई कौ॥

चित्र नं॰ 10

मुद्रण तकनीकी से पूर्व हाथ से पाण्डुलिपियाँ तैयार करना श्रम एवं समय साध्य प्रक्रिया थी। उस दौर में पोथी-लेखकों ने शारीरिक कष्ट सहते हुए पाण्डुलिपियाँ तैयार कीं। इस कार्य में निरन्तर रत रहने से उनका सामाजिक ही नहीं बल्कि पारिवारिक दायरा भी सिमट जाता था। वृन्दावन निवासी गोपाल राय की रचना 'दम्पति वाक्य विलास' की यह प्रति प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में क्र. 8829 पर संरक्षित है तथा इसकी माइक्रोफिल्म ब्रज संस्कृति शोध संस्थान में है। इस प्रति में रचनाकार में लेखक के जीवन की लोकप्रियता वाले सकारात्मक पक्ष तथा उसके जीवन की विषमताओं को ब्रजभाषा काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

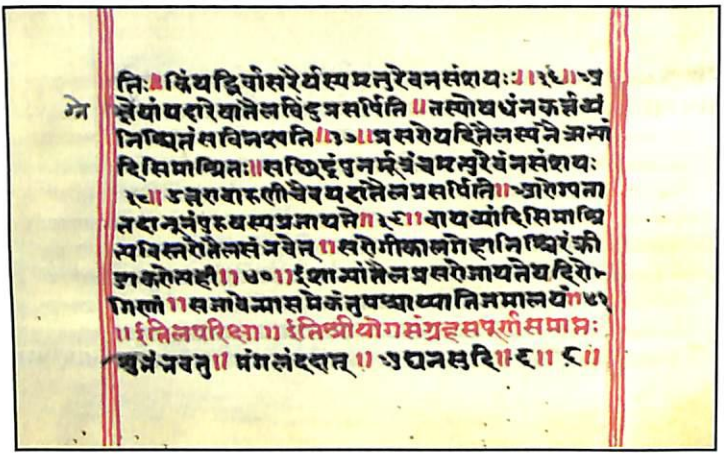

चित्र नं॰ 11

योग संग्रह शीर्षक पोथी का पत्रक, जिसमें संशोधित स्थल पर चिह्न बनाने के साथ ही हाँसिये पर शुद्ध अक्षर अंकित किया गया है। वृन्दावन शोध संस्थान एक्सेशन क्र. 3141

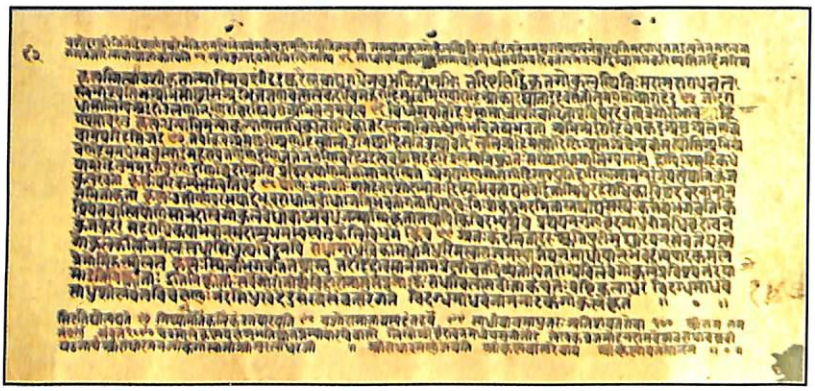

चित्र नं॰ 12

शब्दांक–

16वीं सदी में संस्कृत के प्रसिद्ध रचनाकार रूप गोस्वामी के द्वारा रचित विदग्ध माधव नाटक की पुष्पिका जो उनके द्वारा गोकुल में लिखी गई। जिसकी पुष्पिका इस प्रकार मिलती है।

नन्द[९] सिन्धुर[४] बाणे[५]न्दु[१] संख्ये संवतसर गते। विदग्धमाधव नाम नाटकं गोकुले कृतं॥

9851 कालगणना का सूत्र है– अंकानाम् वामनो गति अत: ग्रंथ का रचनाकाल = 1589

यह पत्रक वृन्दावन शोध संस्थान के ग्रंथागार में एक्सेशन नं॰ 6977 पर सुलभ है।

पोथी लेखन का केन्द्र वृन्दावन—

चित्र सं॰ 13

वि.सं.1712 में राजबाई नामक महिला प्रतिलिपिकार द्वारा वृन्दावन में गो॰ हित हरिवंश महाप्रभु की रचना राधासुधानिधि ग्रंथ की प्रतिलिपि, गुजरात के रहने वाले किसी दामोदर दास के पठनार्थ तैयार की गई। (सौजन्य- रसभारती संस्थान, वृन्दावन)

चित्र सं॰ 14

वि.सं. 1860 में दतिया रियासत के राजा राव पारीछत देव जू महाराज के पठनार्थ वृन्दावन निवासी हित परमानन्द जी के द्वारा लिखी गई पाण्डुलिपि की पुष्पिका जो मूल रूप में दतिया स्टेट लाइब्रेरी में संरक्षित है। पुष्पिका के अन्तर्गत दतिया को उसके पूर्व नाम दिलीप नगर से सम्बोधित किया गया है। (पद संग्रह-हित परमानन्द शोध संस्थान, वृन्दावन)

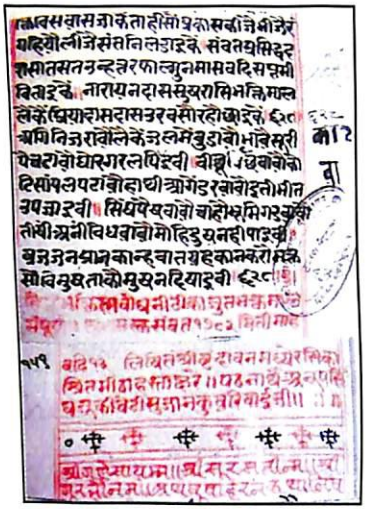

चित्र सं॰ 15

राजा अनूप सिंह की बेटी सुजान कुँवरि के पठनार्थ तैयार की गई भक्ति रस बोधिनी की पोथी। इसे वृन्दावन में मीठा जी नामक प्रतिलिपिकार ने वि.सं. 1782 में तैयार किया।

- डिजिटल संग्रह- ब्रज संस्कृति शोध संस्थान

चित्र सं॰ 16

प्राय: पोथियों में अनुक्रमणिका (विषय सूची) नहीं होती तथापि ऐसा नहीं कि मुद्रण तकनीकी से पूर्व पाण्डुलिपियों में सूची बनाने का चलन न था। यह दम्पति वाक्य विलास ग्रंथ वृन्दावन के प्रसिद्ध कवि गोपाल राय की रचना है। जिसकी मूल प्रति प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में संरक्षित है। तथा माइक्रोफिल्म के रूप में यह वृन्दावन ब्रज संस्कृति शोध संस्थान में संरक्षित है। विभिन्न प्रकार की पोथियों के साथ ही वैष्णव सम्प्रदायों में चलित वर्षोत्सवों के अन्तर्गत पृष्ठ भाग पर प्राय: पदावलियों की सूचियाँ यदा-कदा मिल जाती हैं।

ग्रंथ शीर्षक-यात्रा

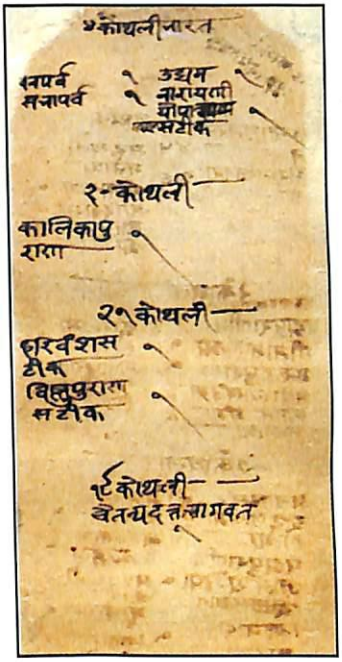

चित्र सं॰ 17

वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णवों के ग्रंथागार का वि.सं. 1554 में बने सूची पत्र [Catlogue], का पत्रक जिसके अन्तर्गत वर्तमान में ''महाभारत'' नाम से लोकप्रिय ग्रंथ को ''भारत'' शीर्षक से सम्बोधित किया गया है। जीव गोस्वामी जी के निर्देशन में संचालित इस ग्रंथागार के तत्कालीन सूची पत्र के इस पत्रक से ज्ञात होता है कि राधादामोदर मंदिर के इस पुस्तकालय में कोथली संख्या-4 के अन्तर्गत तत्कालीन ग्रंथ भारत के विभिन्न सर्ग संकलित थे। क्र. 5425 वृन्दावन शोध संस्थान।

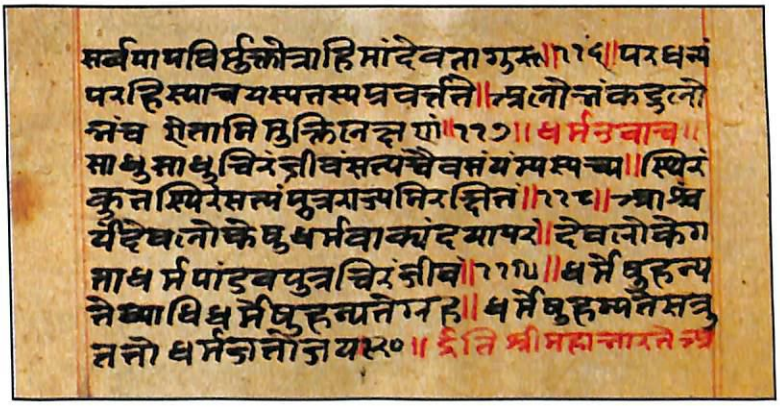

चित्र सं॰ 18

18वीं सदी में प्रतिलिपित महाभारत की पोथी जिसके समापन पर इसे ''महाभारत'' शब्द से ही सम्बोधित किया गया है। वृन्दावन शोध संस्थान के ग्रंथागार में क्रमांक 4281-बी पर संरक्षित है।

चित्र सं॰ 19

ग्रंथ काष्ठ पट्टिका

चित्र सं॰ 20

छेदपाटी -ताड़पत्र

चित्र सं॰ 21

कोथलियों में संरक्षित पाण्डुलिपियां

परिशिष्ट

संख्याबोधक प्रचलित शब्द—

पाण्डुलिपियों के अंतर्गत प्रयुक्त किये जाने वाले संख्याबोधक शब्दों को इस क्षेत्र में कार्य करने वाले मनीषियों ने यत्नपूर्वक संकलित किया। प्रख्यात पाण्डुलिपिविद अगर चन्द्र नाहटा एवं पं.उदयशंकर दुबे जी ने ऐसे शब्दों की सूची अपने कार्यों के दौरान संयोजित कीं हैं। जिन्हें यथारूप यहां इस उद्देश्य के साथ संयोजित किया जा रहा है कि पुरा-ग्रंथों पर कार्य करने वाले सुधीजन इनके सहयोग से कालगणना आदि फलित कर सकें।

शून्य (०)- आकाश और उसके पर्याय (अंतरिक्ष, अम्बर, अनंत, अभ्र, ख, गगन, दिव, नभ, पुष्कर, वियत्, विहायस्, व्योम्, विष्णुपाद, सुर-वर्त्म, शून्य), खग, छिद्र और उसके पर्याय (रंध्र), पंक्ति, पूरण, बिंदु, शिव, शून्य।

एक (१)- अंगुष्ठ, अंशु, अज (अब्जज, धाता, पितामह, प्रथम, ब्रह्मा, विधु), अतीत, अद्वैतवाद, अमृत-द्युति, (अमुतरुचि, इंदु, उडुपति, एणांक, एणभृत, ओषधीश, कलाधर, कलानिधि, कुमुदबांधव, कुमुदिनीपति, क्षपाकर, ग्लौ, चंद्र, जैवातृक, द्विजराज, नक्षत्रेश, निशाकर, निशानाथ, निशापति, निशिपति, पीयूष-दीधिति, प्रालेयांशु, मुगांक, रजनीकर, रजनीनाथ, रजनीश, रात्रि-पति, रोहिणी-पति, विधु, श्वेतज्योति, शशांक, शर्वरी-कांत, शशधर, शशभृत्, शशि, शीतकर, शीतगु, शीतदधि, शोतरश्मि, शीतांशु, सित-कर, सुधांक, सुधांशु, सोम, हिमकर, हिमगु, हिमज्योति. हिम-रुच्), अलख, अवनि, (इला, उर्वरा, उर्वी, काश्यपी, कु, क्षमा, क्ष्मा, क्षिति, क्षोणी, गो, धरणी, धरती, धरा, धात्री, पृथ्वी, भू, भुवि, भूमि, मही, मेदिनी, वसुंधरा, वसुधा), अश्व, आत्मा, आदि, आदित्य, (काश्यपि, तपन, दिनेश), इंद्र (शक्र), उदय, एक, कलश, कलि, कुमुद, खड्ग, गजास्य, गणपति,-रदन (विनायक-दंत), गो, गोत्र, छाया, जीव, ज्ञेय, तनु, नायक, नासा-वंश, पताका, प्रभव, प्रालेय, प्रासाद, बिंदु, मनस्, मुख (वक्त्र), मेरु, मेष (राशि), यंत्र, रमा, रद, रश्मि, राशि, रूप, श्वेत, शेख, शरद, शुक्रनेत्र (शुक्रदृष्टि), शीता, शक्वरी, शिशिर, सिंधु, स्वर्दंड, हर-नेत्र, हस्ति-कर।

दो (२)- अंतक (कृतांत, यम, यमराज, वैवस्वत, शमन), अम्बक (अक्षि, आँख, आँखड़ी, ईक्षण, चक्षु, दृग्, दृष्टि, नयन, नेत्र, लोचन), अंहि (अंघ्रि, चरण, पाद), अश्वि (अश्वी, नासत्य), असि-धारा (खड्ग-धारा), आकृति, उभ (उभय), कर (पाणि, हस्त), कर्ण (श्रवण, श्रुति), कुच (पयोधर, वक्षोज, स्तन), कुटुम्ब, कृति, गंगा, गौरी, गजदंत, गुल्फ, जानु, जंघा, दंडधर, दल, दस्र, दंश, दोः (दोर्, दोस्, बाहु, भुजा), द्वंद्व, द्वि, द्विज, द्वै, द्वैत, द्वौ, दो, नदी-कूल (नदी-तट), नय, नाग-जिह्वा, पक्ष (घस्र), प्रमाण, प्रीति,-रीति,

भरत-शत्रुघ्न, मिथुन, यमल, युगल, युतक, रथ-धुर्य, रविचंद्र, राम-नंदन (राम-सुत), राम-लक्ष्मण, विनायक-स्कंध, विभव, वृष (राशि), शृंग, स्रोत।

तीन (३)- अग्नि (अनल, अर्चि, आज्याश, कृशानु, चित्रभानु, ज्वलन, तपन, तनूनपात्, दहन, पावक, रोहिताश्व, वह्नि, वायु-सख, वैश्वानर, शिखी, साप्तार्थि, हव्यवाहन, हिरण्यरेता, हुताशन, होतृ), अर्थि, अर्थ, आज्यांश, ईश्वर-नयन (ईश्वर दृग्, प्रभु-नेत्र, शिव-नेत्र, शंकर-लोचन, शिवाक्ष, हरचक्षु, हर-नयन, हर-नेत्र), कम्बुग्रीव-रेखा, काल, कालिदास-काव्य, क्रम, गंगा-मार्ग, गज, गुण, गुप्ति, गौरव, ग्रीवा-रेखा, जग (जगत्, भुवन, लोक, विश्व), जरांध्रि, ज्वर, तत्व, ताप, तिसृ, त्रय, त्रि, त्रिक्टु, त्रिकाल, त्रिकूट, त्रिकूट-कूट, त्रिक्षेत्र, त्रिगुण, त्रिजगत्, त्रिदशा, त्रिनेत्र, त्रिपदी, त्रिफला, त्रिमौलि, त्रियामा-याम, त्रिरत्न, त्रिवस्ति, त्रिशिरा, त्रिशूल, त्रैत, दंड, दशा, पद्म, पलाश-दल, पाल, पुर, पुरुष, पुष्कर, पूर्ण, ब्रह्म, भव-मार्ग (शिव-मार्ग), भवन, भुवन, मुनि, यज्ञोपवीत-सूत्र, रत्न, राम, वचन, वर्ण, वर्हि, वलय, वलि, वाजी, विक्रम, विष्टप, विद्या, वेद, शक्ति, शिर, शूल, शुभेतरा, लेश्या, संध्या, सहोदरा, हर-हत-पुर।

चार (४)- अंग, अंत:करण, अम्बुधि (अम्बुनिधि, अम्भोनिधि, अम्भोधि, अपांपति, अब्धि, अर्णव, आप, उदधि, उदन्वंत, उदन्वान्, कूपार, जलधि, जल-निधि, जलाशय, दधि, नदीनाथ, नीरधि, नीरनिधि, पयोधि, पयोनिधि, पाथोनिधि, पारावार, याद:पति, वनधि, वारिधि, वारिनिधि, वारि-राशि, वार्धि, विषधि, सलिलाकर, समुद्र, सरित्पति, सागर, सिंधु), अज-मुख (ब्रह्ममुख, ब्रह्मास्य, विधि-मुख), अनुयोग, अब्द-बीज, अभिनय, अप (आप), अवस्था, आश्रम, ईश्वर, उपाय, कथा, करांगुलि, कषाय, कास्य, कूँट, कृत, कृता, केंद्र, कोष्ठ, खानि, गज-जाति, गति, गवांध्रि (गोचरण), गोचर, गोस्तन, चरण, चतुर, चत्वारि, चतुरिका-स्तम्भ, चतुष्टय, चार, चंद्रपति, जल, जुग (युग), जोधार, तुर्य, दधि, दशरथे-पुत्र, दिशा (दिग्, दिश्, दिशि), ध्यान, निर्जर, नीति, पदार्थ (फल), पाठक, बंध, बंधु, बानी (वाणी), बुद्धि, माला, मुक्ति, याम, युग, योजन-क्रोश, रीति, रोहिणी, लोकपाल, वर्ण, वारण-रद, वाणिज, विधि, विष्णु-भुजा (हरि-वसु, हरि-भुज), वेद (श्रुति), सनकादि, संघ, संघात, संज्ञा, सम-धात (?), सुर-गज-रद, सुर-भेद, सेनांग, स्तवक, सम्प्रदाय।

पाँच (५)- अंग, अक्ष, अनिल (पवन, प्राण, मरुत, मारुत, वात, वायु, समीरण), अर्थ, असु (प्राण), अनुत्तर, आचार, इषु (नाराच, पत्री, बाण, मार्गण, विशिख, शर, शस्त्र, शिलीमुख, सायक, स्मर-बाण), कन्या, करणीय, करांगुलि, काम-गुण, गव्य, गति, गिरि, चर, ज्ञान, तत्व (भूत), तनुवात, तंतुसायक, निरात्मा, पर्व, पंच, पंचक, पंचकूल, पंचोत्तर-विमान, परमेष्ठी, पांडव, पाप, प्रणाम, प्रजापति, पृषत्क, भूत, महाकाव्य,

महापाप, महामय, महाभूत, महायज्ञ, महाव्रत, माता, मृगशिर, मृगादन, मेरु, या, रत्न, वर्ग, वर्ण, वर्त्म, वह्नि, विषय, व्रत, शम्भु-मुख (शिववदन, हरमुख), शरीर, शस्त्र, श्रम, समिति, सुर, सुरवृक्ष, सुमति, सुपार्श्व-फणि-फण, स्थानक, स्मर-बाण, स्वर, स्वर्ग-व्रताग्नि, स्वाध्याय।

छह (६)- अंग, अलिपद (भ्रमर-चरण, भृगंपद), अंगिरस, अरि (द्विष, द्वेषण, दुर्हद, रिपु, सपत्न), ऋतु, करभ, काय, कार्तिकेय, (कौंवारि, गुहक), कारक, काल, कुमार-बदन (गृह-मुख, गृहवक्त्र, गुहानन, गुहास्य, भवानी सुतास्य, महासेन-वदन), क्षमा-खंड (खंड), खर, गुण, चक्री (चक्रवर्ती), ज्वरासुर, जीव, तर्क, तृण, तैतिल, त्रिशिरानेत्र-नारायणी (?), दर्शन (शास्त्र), देह, द्रव्य, पद, भाषा, भू-खंड, मासार्ध, यति, रति, रस, राग, रामा, लेश्या, वर्ण, वज्र-कोण, वदन, वर्षधर, वेदांग, शर, शिलीमुख, षट्पट, षट् षट्क, समाय, समास, स्वर, सम्पत्ति।

सात (७)- अंग (अचल, अद्रि, अद्रिश्वर, कुलगिरि, कुलपर्वत, कुलाचल, कुलाद्रि, कुभृत, क्ष्माधर, गिरि, गोत्र, त्रिकूट, नग, पर्वत, भूभृत, महीधर, महीभृत, शिखर, शैल, सप्ताचल), अत्रि, अब्धि (उदधि, जलधि, जलनिधि, तोयधि, मकराकर, रत्नाकर, वारिधि, समुद्र, सागर), अर्क, अश्व (घोटक, तुरंग, तुरग, बजि, रवि-वाह, वाजी, वाह, व्रध्न, शकवाह, सप्ताश्व, हय), अश्वि, अर्चि (अनल, वह्निशिखा), अंग, आहार्य, ऋद्धि, ऋषि (मुनि, यति), कलत्र, क्षेत्र, खर, गंधर्व, गोत्र, गोदावर्य, चक्रवाल, छंद, त्रिकूट, तत्व, तपोधा (तपस्वी), ताल, तुला, तूड, दुर्गति, द्वीप, दु:ख, धातु, धान्य (व्रीहि), धी, नय, नयस-संतान, नरक, नाग (पन्नग), पाताल (रसातल), पार्श्वचिह्न, फणि, मणि, पुर, पुरी, पूर (?), भय, भुवन (लोक), मही, मातृक, मात्रक, राज्यांग, व्यसन, वह्निशिखा, वाडव, वार, व्रीहि, श्रीमुख, सप्त, सप्तपर्णपर्ण, सुख, सुर, स्मर, स्वर।

आठ (८)- अंग (योगांग), अनीक, अनुष्टुभ्, अनेकप (इभ, करी, कुंजर, कुम्भी, गयवर, गज, दंतावल, दंती, दिग्गज, दिक्कुम्भी, दिक्पाल, द्विप, द्विरद नाग, नागेंद्र, पन्नग, पुष्कर, मदकल, मंगल, मातंग, यूथप, व्याल, वारण, सिंधुर, स्तम्बेरम, हस्ति, हय), अमांगल, अलि, अवलेभ, अष्ट, अहि (अहिकुल, अली, तक्ष, तक्षक, नाग, नागेंद्र, पन्नग, फणी, भर्वी, भुजग, भोगी, व्याल, सर्प), ईशमूर्ति (शम्भुमूर्ति), ऐश्वर्य (भूति), कर्म, कररी, करिवाशक, कलम, कुलपति, कुम्भीपाल, गिरि, तनु (अंग), दंत, दिक्पाल (लोकपाल), दिग्दुरित, देश, धी, धीगुण, पद्मी, प्रवचन-माय, प्रभावक, पुष्कर, बुद्धिगुण, ब्रह्म, भोगी, मद, मंगल, याम, यूथपनाथ, योग, योगांग, वसु, विधि, व्याकरण, श्रुति, सिद्धि, सिद्धिगुण, सुर, स्पर्श, हय।

नौ (९)- अंक, अंग, अंड, अंतर, ऊलर, कृतरावणमुंड, केशव, क्रतु, खंड, ख, खग (खेचर, खेट, ग्रह), गुप्ति, गुण, ग्रैवेयक, गौ, गुह, छिद्र (रंध्र), जेन-पद्म,

तत्व, द्वार, दुर्ग, नंद, नव, नाडी, नाथ, नाम, नारद, नारायण (वासुदेव), निधान, निधि, पवन, प्रतिनारायण (प्रतिवासुदेव), पदार्थ, ब्रह्म-गुप्ति, ब्रह्मवृत्ति, भक्ति, भूखंड, मंगल, युवा, योगेश्वर, रत्न, रस, राशि, लब्धि, व्याघ्रीस्तन, सुधा-कुंड, शेवधि, संख्या।

दस (१०)- अंगद्वार, अंगुलि, अवतार, अवस्था, आशा (ककुभ्, काष्ठा, दिक्, दिशा), इंदु, वाजि, (चंद्रवाह, चंद्राश्व), कर्म, छाया, दश, दशा, दुर्ग, दोष, धाता, धुनि, नाभि, पंक्ति, पद्म, प्राण, मुद्रा, यति-धर्म, विश्वेदेव, वायु, रावण-मस्तक, रावण-मुख, रावण-शिरस्, शम्भुबाहु, श्रमण-धर्म, हस्तांगुलि, हरि, हरित्।

ग्यारह (११)- अंग, अंगोपांग, अक्षोहिणी, ईश ईश्वर कपर्दी, कपालभृत्, गिरीश, त्र्यम्बक, चंद्रशेखर, धूर्जटी, पशुपति, पिनाकी, प्रमथपति, भर्ग, भव, भूतेश, महादेव, महेश, महेश्वर, रुद्र, वामदेव, शंकर, शम्भव, शम्भु, शर्व, शितिकंठ, शिव, शूली, श्रीकंठ, स्थाणु (हर), एकादश,कुम्भ, कुरुभूपति-सेना, जिनोपासक-प्रतिमा, भीम।

बारह(१२)- अनुपेक्षा, अंशमाली (अब्जिनी-पति, अरुण, अर्क, अर्यमा, अहस्कर, आदित्य, इन, उष्णरश्मि, उष्णांशु, चित्रभानु, जगच्चक्षु, तपन, तरणि, तीक्ष्णांशु, दिनकर, दिनकृत्, दिननायक, दिन-मणि, दिवाकर, द्युमणि, धामनिधि, पतंग, प्रभाकर, पूषा, भानु, भास्कर, भासवत्, भास्वंत, मार्तंड, मिहिर, रवि, लोक-बंधु, विभाकर, ब्रघ्न, सविता, सहस्रकिरण, सहस्रांशु, सूर, सूर्य, हरि, हरिदेव), उपांग, कर्म, कामदेव, कर्तिकेय-नेत्र (गुहनंत्र, गुहाक्षि, सेनानी-नेत्र), क्ष्मापति-मंडल (चक्रिनः, चक्रवर्त्तिनः, चक्रि-राजानः, राजमंडल), गुह-बाहु, गुहाधीश, जगती, द्वादश, नेम, पंथ, पाकशासरन, बहुमाता, भक्त, भाव, भावना, भिक्षु-प्रतिमा (यति-प्रतिमा), मास, मीन (सफर), यम (विकर्त्तन), यमक, व्यय, शशि, वक्र, बृहस्पतिहस्ता, संक्रांति, सभासद, सारिकोष्ठ, हृदय, कमल, हरिदेव।

तेरह (१३)- अघोष, अतिजगति, काम, किरण, क्रियास्थान, घोषा, तरुवर, ताल, ताम्बूल-गुण, त्रयोदश, नदीद्वार, प्रथम-जिन-भव, प्रमाथी, यक्ष, रत्न, रवि, विश्व, विश्वेदेवाः, वैश्वदेवाः, सरोवर।

चौदह (१४)- अश्विनी, इंद्र (आखंडल, जिष्णु, पुरंदर, पुरुहूत, मधवा, शक्र, शतमन्यु, सुरपति, सुरेश, सुनासीर, वज्रिन्ः, विडौजा), इंद्री, कुलाकर, गुणमणि, गुणस्थान, चतुर्दश, जम (यम), जीवाजीवोपकरण, देव, त्रिदेव, ध्रुवतारा, नियम, पुरुषान्वय, पूर्व, प्रकृति, भर, भुवन (लोक, विश्व, भूतग्राम, मनु, मार्गण), यम, रज्जु, रजसूत्र, रत्न, वास्तव, विद्या, विद्या-स्थान, विक्रम, विषय, सूत्र, सुर-भवन, स्रोतस्विनी, स्वप्न।

पंद्रह (१५)- स्तोत्र् अहन् (घस्र, दिन, दिवस), चंद्रकला, तिथि, तिथि-संख्या, पक्ष, पंचदश, परमाधार्मिक, वृष।

सोलह (१६)- अम्बिका, अष्टि, इलापति (क्षोणीश, नृप, नरपति, पृथ्वीपति, भूप, भूपति, भूपाल, मेदिनीपति, राजा), इंदुकला (शशिकला, सुधारुचिकला, हिमकर-कला),

उपचार, कला (चंद्र की), चित्रभानु, पार्षद, वयरम्मा (?), विद्यादेवी, शृंगार, शुक्रार्चिष, षोडश, सुर, सुरपति, संस्कार।

सत्रह (१७)- अम्बुद (घन, जीमतू, मंघ, जलद, वारिद, पयोद), अत्यष्टि, कुंथु, भक्ष (भोजन), मित्र, मेघाद, वारि, संयम (संयमभेद), सप्तदश।

अठारह (१८)- अध्याय, अब्रह्म, अष्टादश, जट, तारण, द्वीप, धान्यक, धृति, पापस्थानक, पुराण, प्रबराम (?), भार, विद्या, स्मृति, सेना-भारत।

उन्नीस (१९)- अतिधृति, एकोनविंशति, ज्ञाध्ययन, धन्या, पार्थिव, पिंडस्थान, विशेष, संज्ञा।

बीस (२०)- अर, अनंतचक्षु, करांगुलि, कृति, चक्षु (रावण-चक्षु, दशकंधर-नेत्र), दशकंधर-भुजा (रावण-भुजा), नख (नखर), नर, भुजा (रावण-भुजा), व्यय, विंशति, विशोपक, विश्वे, श्रीभर्तृकरशाखा, श्रुति (रावण-श्रुति)।

इक्कीस (२१)- अमरलोक (अमरालय, त्रिदशालय, दिव, देवालय, निर्जरालय, बिबुधालय, स्वर्ग, सुरलोक, सुरालय), उत्कृति, एकविंशति, प्रकृति, सर्वजित।

बाईस (२२)- कृति, जाति, द्वाविंशति, परीषह, बाईसी (पातिशाही- सेना)।

तेईस (२३)- अक्षौहिणी, जरासंध, त्रयोविंशत, विकृति।

चौबीस (२४)- अवतार, अर्हत्, गायत्री, चतुविंशति, जिन, तत्व, सिद्ध, सुकृति।

पच्चीस (२५)- तत्व, पंचविंशति, प्रकृति।

छब्बीस (2६)- उत्कृति।

सत्ताईस (२७)- उडु (ऋक्ष, तारक, तारा, धिष्ण्य, नक्षत्र)।

अट्ठाईस (२८)- लब्धि।

तीस (३०)- दल, सदल।

बतीस (३२)- दंत (दशम, द्विज, रद, रदन), द्वात्रिंशत्, नरलक्षण।

तेंतीस (३३)- अमर (त्रिदश, दानवारि, दिवौकस, देव, देवता, निर्जर, विबुध, सुर), त्रयस्त्रिंशत्, त्रिविष्टप, बुध।

छत्तीस (३६)- रागिनी, वर्गमूल।

चालीस (४०)- नरक।

अड़तालीस (४८)- जगती।

उनचास (४९)- अनिल (पवन, पवमान, प्रभंजन, मरुत्, वात, वायु, समीर), तान।

चौंसठ (६४)- स्त्री-कला।

अड़सठ (६८)- तीर्थ।

बहत्तर (७२)- पुरुष-कला।

चौरासी (८४)- जाति।

सौ (१००)- अब्ज-दल (अब्दल, कमल-दल, शतपत्र-पत्र), अर्जुन-सुत, अस्र-स्रक्, कीचक, जपमाला, जलधि-भोजन (?), धृतराष्ट्र-पुत्र (धृतराष्ट्र सुत), पुरुषायु, मणि-हार, रावणांगुलि, शक्रयज्ञ, शतभिषा, शतमुख (?), स्रत्।

हजार (१०००)- अम्बुजच्छद (कमल-दल, पंकज-दल), अहिपति-मुख (शेष-शीर्ष), इंद्र, इंद्रचक्षु (इंद्रदृष्टि, इंद्रनेत्र), अर्जुन-बाण, अर्जुन-भुज (अर्जुन-बाहु), कार्त्तवीर्यशिर, गंगामुख (जाह्नवी-वक्त्र), पुणातरदृष्टचंद्र, रवि-कर, वर्ष (?), विश्वामित्र-आश्रम, सहस्र, सामवेद-शाखा।

दस हजार (१०,०००)- अयुत।

लाख (१०,००, ०००)- प्रयुत।

दस करोड़ (१०, ००,००,०००)- अर्बुद।

अंक के स्थान पर अक्षर और शब्द का प्रयोग में एक अंतर है। एक अंक के लिए एक निश्चित अक्षर का प्रयोग होता है किंतु एक अंक के लिए कई-कई शब्दों का प्रयोग पाया जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन — डॉ॰ वासुदेव उपाध्याय
- भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला — मुनि पुण्य विजय जी
- भारतीय प्राचीन लिपिमाला — रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा
- पाण्डुलिपि विज्ञान — डॉ॰ सत्येन्द्र
- पाठानुसंधान — डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त
- अनुसंधान की प्रक्रिया —डॉ॰ सावित्री सिन्हा, डॉ॰ विजयेंद्र स्नातक
- वृन्दावन के वैष्णव लिखिया : एक अज्ञात परंपरा की खोज — डॉ॰ राजेश शर्मा
- ब्रज की अकबरकालीन पुस्तक ठौर : उसका सूची एक अध्ययन — स्व-सम्पादन
- वासवदत्ता कथा —संपादक-जयदेव शुक्ल
- The Mahimastava (Introduction) _ Brown,W.Normon
- The Encyclopaedia Americana Vol.18
- Indian Palaegraphy _ Rajbali Pandey
- Indian Palaeography _ G.Bubler
- हिस्ट्री ऑफ एंशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर —मैक्समूलर
- नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४६, अंक २, नवीन संस्करण,
- रामचरितमानस, आत्मनिवेदन, काशिराज संस्करण — संपादक- डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त
- राजशेखर,काव्यमीमांसा — केदारनाथ शर्मा सारस्वत
- ऋग्वेद-भाग १, द्वितीय संस्करण, भूमिका — मैक्समूलर
- पद्मपुराण, द्वितीय खंड —संपादक-श्रीराम शर्मा आचार्य
- गरुणपुराण, द्वितीय खंड —संपादक- श्रीराम शर्मा आचार्य
- मत्स्यपुराण, प्रथम खंड — संपादक-श्रीराम शर्मा आचार्य
- ऋग्वेद भाग-1, द्वितीय संस्करण - मैक्समूलर, भूमिका, पृ.सं.13
- निजमत सिद्धान्त -किशोरदास, मध्य खण्ड, छन्द-210
- वृन्दावन के शिलालेख - डॉ.राजेश शर्मा

पाण्डुलिपियाँ—

- ध्रुवदास जी की वाणी - वि.सं.1876 की प्रति, रसभारती संस्थान, वृन्दावन
- रसिक अनन्य माल — भगवदमुदित (डिजिटल संग्रह- ब्रज संस्कृति शोध संस्थान, वृन्दावन)
- पदावली संग्रह —मदनमोहन मंदिर अठखम्भा, वृन्दावन
- दम्पति वाक्य विलास — राजस्थान प्राच्य प्रतिष्ठान जोधपुर, एक्सेशन सं.18829 (डिजिटल संग्रह- ब्रज संस्कृति शोध संस्थान, वृन्दावन)
- तजिका पद्म कोश —वृन्दावन शोध संस्थान, एक्सेशन नं॰ 2240
- योग संग्रह —वृन्दावन शोध संस्थान, एक्सेशन नं॰ 3141
- श्रीमद्भगवद्गीता की पोथी —वृन्दावन शोध संस्थान, एक्सेशन॰ 2486
- विदग्ध माधव —रूप गोस्वामी, वृन्दावन शोध संस्थान, एक्सेशन नं॰ 6977
- राधासुधानिधि — गोस्वामी हित हरिवंश महाप्रभु, प्रतिलिपिकार— राजबाई (वि.सं.1712 की प्रति, सौजन्य- रसभारती संस्थान, वृन्दावन)
- वर्षोत्सव पद संग्रह वि.सं.1860 — हित परमानंद शोध संस्थान, वृन्दावन
- नागरीदास कृत पद संग्रह — डिजिटल संग्रह- ब्रज संस्कृति शोध संस्थान, वृन्दावन
- जीव गोस्वामी की पुस्तक ठौर का सूची पत्र वि.सं.1554 - वृ. शो. सं., एक्सेशन नं॰ 5425
- महाभारत की पोथी — वृन्दावन शोध संस्थान एक्सेशन नं॰ 4281-बी
- श्रीमद्भगवद्गीता की पोथी — वृन्दावन शोध संस्थान क्र.2486
- तंत्र सार — वृन्दावन शोध संस्थान, एक्सेशन नं.785
- शालिग्राम शिला परीक्षा — वृन्दावन शोध संस्थान, एक्सेशन नं.2132

प्रगति शर्मा

पता – नृसिंह मन्दिर के सामने, अठखम्भा, वृन्दावन-281121 मथुरा ऊ०प्र०

जन्मतिथि – 07-08-1984

ई-मेल – pragatisharmas27@gmail.com

शैक्षिक उपलब्धियाँ – एम.ए. (संस्कृत, शिक्षाशास्त्र, हिन्दी)

अभिरुचि – विभिन्न हस्तलिखित ग्रंथागारों तथा ब्रजलोक परम्पराओं में विद्यमान सन्दर्भ सामग्री का सर्वेक्षण, शोध, सम्पादन, एवं प्रकाशन तथा संस्कृति के विविध पक्षों पर केन्द्रित शैक्षिक संगोष्ठियों में सहभागिता।

शोध-गतिविधियाँ

- विभिन्न समाचार पत्र एवं पत्रिकाओं में ब्रज संस्कृति से जुड़े अप्रसारित पक्षों पर शोधपरक आलेख तथा विषयसम्मत साक्षात्कारों का प्रकाशन तथा संस्कृति मंत्रालय के विभिन्न प्रकल्पों द्वारा संचालित परियोजनाओं में सक्रिय सहयोग एवं शोध योजनाओं आदि का संचालन तथा प्रकाशन।
- राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित समीक्षिका अंक-5 में भक्तमाल की परम्परा पर एकाग्र शोध आलेख का प्रकाशन।
- संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार के सहयोग से वृन्दावन शोध संस्थान द्वारा संचालित ब्रज संस्कृति विश्वकोश में वर्ष 2017 से सहा. सम्पादक के रूप में कार्यरत।

शोध-प्रकाशन

- व्यास वाणी में शिक्षा शास्त्रीय आधार
- वृन्दावन और पोथी लेखन के सन्दर्भ
- प्रियादास कृत भक्तमाल का विस्तार और वृन्दावन
- वन-वृन्दावन : तब और अब
- चैतन्य कथा के अमर रचनाकार कृष्णदास कविराज और चैतन्य चरितामृत की पाण्डुलिपियों का विस्तार

प्रकाशित पुस्तकें

- ब्रज की साँझी कला के दुर्लभ ऐतिहासिक सन्दर्भ
- ब्रज की अकबरकालीन पुस्तक ठौर एवं उसका सूची पत्र